नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६७

संवत् २०१६

अंक २

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

विमर्श

चयन तथा निर्देश

समीक्षा

❁

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५९] श्रावण, संवत् २०११ [अंक २

भट्टनायक की व्याख्या का दार्शनिक आधार

राममूर्ति त्रिपाठी

भरत के प्रसिद्ध रससूत्र की व्याख्याएँ प्राचीन भारतीय आचार्यों ने विभिन्न दार्शनिक भूमियों पर की है। कहा जाता है कि भट्टनायक सांख्यदर्शन के प्रतिनिधि आचार्य हैं। केवल वायवीय परंपरा ही नहीं, प्रामाणिक विद्वानों ने भी इस परंपरा का प्रबल समर्थन किया है और युक्तिपूर्वक। इन सांख्यसमर्थक विद्वानों की दो कोटियाँ हैं—कुछ तो ऐसी साधारण पदावली का प्रयोग करते हैं जिनके आधार पर भट्टनायक के मत को सांख्यदर्शन पर भी आधारित कहा जा सकता है और दूसरे ऐसे हैं जो स्पष्ट रूप से उन्हें सांख्यश्रद्ध विवेचक बताते हैं। पहले वर्ग के प्रतिनिधि आचार्य मम्मट हैं। उन्होंने 'भोग' का स्वरूप 'सत्वोद्रेकवशात्प्रकाशानंदमय संविद्विश्रांति'[1] बताया है। इसकी व्याख्या सांख्यदर्शन के अनुरूप यों की गई है कि समस्त प्राकृत पदार्थों की भाँति अंतःकरण भी सत्वरजस्तमोमयात्मक है। भावना-व्यापार के बल से साधारणीकृत विभावादिपदव्यपदेश्य पदार्थों के वीत-विघ्न-प्रत्यय-प्रवाह वश रज एवं तम दबने लगते हैं और सत्व प्रबल हो जाता है। सत्वगुण का स्वरूप बताते हुए उसे 'प्रकाश' 'सुख' रूप कहा गया है। सो सत्वगुण का उद्रेक होते ही वेद्यांतरसंपर्कशून्य प्रकाशानंदमयी संवित्ति उदित होती है और इसी से भुज्यमान स्थायी रसपदवी प्राप्त करता है।

१. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास।

दूसरी कोटि के आचार्यों म सबसे मूर्द्धन्य स्थान है प्रदीपकार म० म० गोविंद ठक्कुर का, जिन्होंने काव्यप्रकाश के पूर्वोक्त उद्धृत अश की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि इस (मम्मट के आधार) पर भट्टनायक ने साख्यदर्शन के आधार पर भरतसूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है।[२] पी० पचाननशास्त्री ने अपनी द फिलासफी आव् ईस्थेटिक प्लेजर मे भी 'अभिनव भारती' की पक्तियों[३] को आधार बनाकर यह कहा है[४] कि भट्टनायक ने 'भोग' की व्याख्या साख्यदर्शन के आधार पर की है। आनदप्रकाश दीक्षित भी अपने 'रससिद्धात : स्वरूप और विश्लेषण' नामक प्रबध म इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—'सत्वोद्रेक' तथा 'भोग' शब्दों को लेकर इस मत का सबध साख्यदर्शन से स्थापित किया गया है।[५]

इस प्रकार एक ओर जहाँ परपरा और मूल पक्तियों को आधार बनाकर कतिपय विद्वान् इनकी व्याख्या का दार्शनिक आधार साख्य को बताते हैं वहीं दूसरी ओर कुछ ऐसी व्याख्याओं के इंगित मिलते है जिनसे यह स्पष्ट होता है कि इनकी व्याख्या अद्वैत वेदांत ही नहीं, मीमासादर्शन का भी सहारा लेती है।

'भोग' का स्वरूप 'लोचन'[६] 'अभिनव भारती'[७] तथा काव्यप्रकाश'[८] मे जैसा मिलता है, उसी के आधार पर इनको अद्वैतवाद की भूमिका पर भी स्थित देखा गया है। 'लोचन' में 'योग' का स्वरूप यों बताया गया है—'भाविते च रसे तस्य भोगः, योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृति विश्रांतिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः।[९]

२. भोगश्च सत्वगुणोद्रेकात्प्रकाशते य· आनंदस्तत्स्वरूपा अनन्यालम्बनाधा संवित् तत्स्वरूपो लौकिकसुखानुभवविलक्षण। सत्वरजस्तमसा गुणाना-मुद्रेकेण क्रमात्सुखदु·खमोहा प्रकाश्यन्ते। उद्रेकश्च स्वेतरावभिभूयाव-स्थानमिति साख्यसिद्धातानुसारेण विवृणुते।—काव्यप्रदीप, पृ० ६६।

३. सत्वोद्रेक प्रकाशानंदमयनिजसंविद्विश्रांति (वि) लक्षणेन परब्रह्मास्वाद-सविधेन भोगेन।—अभिनव भारती, पृ० २७८, ७९।

४ द फिलासफी आव् ईस्थेटिक प्लेजर, पृ० १३१।

५. पृ० ८०।

६. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १८३ (चौ० सं०)।

७. अभिनव भारती, पृ० २७८, छठा अध्याय।

८. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास।

९. लोचन, पृ० १८३।

'बालप्रिया'[10] नामक 'लोचन' की टीका में इसकी व्याख्या यों की गई है—भावनाशक्ति के बल से रामादिगत प्रतीत स्थायी ही सहृदयों से भुज्यमान होकर रसपदवी प्राप्त करता है। यह 'भोग' अनुभवात्मक और स्मरणात्मक लौकिक प्रतीतियों से भिन्न होता है। यहाँ सत्वगुण का उद्रेक रहता है, पर (अप्रधानतः) रज एवं तम का भी लेशतः संबंध रहता है – इसी लिये दोनों के वैचित्र्य से अनुविद्ध सत्वमयी, वेद्यांतरशून्य, द्रुति (राजस), विस्तार (तामस), विकास (सात्विक) मय, स्वात्मचैतन्य रूप लोकोत्तरानंद अनुभूत होता है। ध्यान देने की बात है कि सांख्यदर्शन के अनुरूप 'आनंद' प्राकृत भूमि (सत्वपरिणाम) की वस्तु है क्योंकि वहाँ पुरुष चिन्मात्रस्वभाव है, वेदांतियों की भाँति आनंदमय नहीं। हाँ, सेश्वरसांख्य की बात दूसरी है। दूसरा तर्क अद्वैतवेदांतपरक होने में यह है कि वहीं आगे 'परब्रह्मास्वादसविध' भी कहा गया है। कम से कम 'चिदानंदमय' अद्वैतवेदांतसंमत ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। परब्रह्म तथा उनका यह रूप माननेवाला वेदांतदर्शन से अवश्य प्रभावित होगा। उपर्युक्त उद्‌धृत पंक्ति से (रस) आनंद की भूमि 'प्राकृत' नहीं, सत्वगुण के उद्रेक से संभूत सत्व का सुखात्मक रूप ही नहीं, बल्कि उससे आगे बढ़कर उसे आत्मानंद से संवलित कहा गया है। वेदांतदर्शन से प्रभावित होने में एक अन्य तर्क है – काव्यप्रदीप के प्रख्यात एवं प्राज्ञ टीकाकार वैद्यनाथ पायगुडे ('प्रभा' टीकाकार) का वक्तव्य। उन्होंने प्रदीपकार की स्पष्ट सांख्यपरक उक्ति के बावजूद जो व्याख्या की है, वह है पूर्णतः अद्वैत वेदांत के आलोक में। उन्होंने काव्यीय रस को आत्मानंद से संबद्ध करने के लिये यह कहा कि सत्वोद्रेक से चैतन्यात्मक आनंद पर पड़ा हुआ आवरण हट जाता है और निरावरण चैतन्यानंद संवलित स्थायी भाव का रसात्मक भोग होता है।[11] सांख्यदर्शन में सुख के लिये सत्व का उद्रेक ही पर्याप्त है, पर अद्वैत वेदांत में आनंदपूर्वक कोश से भी परे आत्मानंद को अनुभूतिगोचर करने के लिये आवरणभंग आवश्यक है और इसलिये यहाँ प्रभाकार ने सत्वोद्रेक को अद्वैतदर्शन के अनुसार आवरणभंग का निमित्त बताया है और निरावृत चैतन्यानंद के भास की बात कही है।

श्रीकांतिचंद्र पांडेय जी का भी विचार है कि भट्टनायक पर वेदांत का प्रभाव है। कारण, नाट्यशास्त्र की पहली कारिका की व्याख्या[12] में (ब्रह्मणा यदुदाहृतम्)

१०. बालप्रिया, पृ० १८३।

११. सत्वोद्रेकादावरणभंगे सति आनंदात्मक चैतन्यविषयीकरणरूपा भुक्तिः।—प्रभा, पृ० ९६।

१२. ब्रह्मणा परमात्मना यदुदाहृतम्—अविद्याविरचित निस्सारभेदग्रहे यदुदाहरणीकृतम् – तन्नाट्यम्। तथावक्ष्यामि। यथाहि कल्पनामात्रं सारं तत

उन्होंने कहा है कि ब्रह्मा ने नाटक का निर्माण इसलिये किया कि लोग इसी से समझें कि किस प्रकार अविद्याविरचित भेद निस्सार है। विश्व में दृश्यमान नाम और रूप असार हैं – असत्य ही है। इसी प्रकार मंच पर भी जो कुछ दृश्यमान है, वह कल्पित ही है। मंचस्थ सामग्री का कल्पनाग्रहीन रूप ही उपादेय है। पाडेयजी ने स्पष्ट कहा है — उन्होंने वेदांतमत का अनुसरण किया है और दर्शन की उसी शाखा को अपने सिद्धांत का आधार बनाया।[13]

इस प्रकार दूसरी ओर इनकी व्याख्या का आधार अद्वैत वेदांत है, यह माननेवाले भी कमजोर नहीं हैं। इन दोनों मतों के अतिरिक्त 'भावनापक्ष' से विचार करने पर 'लोचन' के आधार पर इनके सिद्धांत का आधार मीमांसादर्शन भी जान पड़ता है और इस आशंका की पुष्टि 'रसप्रदीप', 'बालप्रिया' (काव्यप्रकाश की वामनी टीका) नामक मूल एवं टीका ग्रंथों से होती है।

लोचनकार ने पहले तो इन्हें मीमांसक समझते हुए एक श्लोक की अपव्याख्या पर आक्षेप करते हुए कहा है—जैमिनीयसूत्रेष्वेवं योज्यते न काव्येऽपीत्यलम्[14]— अर्थात् इस प्रकार की योजना जैमिनी के सूत्रों के संबंध में की जा सकती है काव्य में नहीं। इसी प्रकार अभिनव ने अन्यत्र भी इन्हें जैमिनी का अनुयायी कहा है।[15] म० म० पी० वी० काणे ने भी इन सब उद्धरणों से यह अनुमान निकाला है कि वे मीमांसक थे — 'इन संदर्भों से यह प्रतीत होता है कि भट्टनायक मीमांसक थे या कम से कम अपने ग्रंथ में मीमांसा पद्धति पर उनकी आस्था थी।'[16] अनुश्रुति भी उन्हें मीमांसक ही बतलाती है। तीसरी बात यह है कि लोचनकार की धारणा है कि उन्होंने 'भावना' शब्द मीमांसा से ही उसी प्रकार उधार लिया जिस प्रकार 'ध्वनि' शब्द को आनंदवर्द्धन ने वैयाकरणों से। 'भावना' शब्द मीमांसादर्शन में व्यापारविशेष के अर्थ में प्रयुक्त है। भावना को दो प्रकार से माना है – शाब्दी एवं आर्थी। प्रत्येक में तीन अंश है — साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता। उदाहरणार्थ छेदन

एवानवस्थितैकरूपं क्षणेन कल्पना शतसहस्रसह स्वप्नादिविलक्षणमपि ‥ तथा तादृगेव विश्वमिदमसत्यनामरूप प्रपञ्चात्मकम्।—अभिनव भारती में 'हृदयदर्पण' से उद्धृत, पृ० ३५।

१३. कंपैरेटिव ईस्थेटिक्स, भाग २, पृ० ६०।

१४. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १७२।

१५. हिस्टरी आव् संस्कृत पोएटिक्स, पृ० २१५।

१६. वही।

एक क्रिया या व्यापार है। अब, इस क्रिया का साध्य है लकड़ी का द्वैधीभाव, साधन है कुल्हाड़ा तथा इतिकर्तव्यता में कुल्हाड़े का उठाना और चलाना आदि हैं। ठीक इसी प्रकार काव्य की भावनाशक्ति के भी तीन अंश हैं – काव्यभावना का साध्य है रस, साधन है व्यंजना और इतिकर्तव्यता है गुणालंकार आदि का औचित्य। इतना ही नहीं, एक और तर्क भी इन्हें मीमांसक बनाता है।[17] 'प्रभाकार' ने अपने 'रसप्रदीप' नामक ग्रंथ में कहा है[18] कि भट्ट लोल्लट और शंकुक का मत इसलिये अग्राह्य है कि वे लोग सामाजिक और रसाश्रय से ताटस्थ्य रखते हैं – रस का मुख्यतः लगाव अनुकार्य एवं अनुकर्ता से मानते हैं – और ऐसा इसलिये मानते हैं कि स्थायी का संबंध उन्हीं से है, उन्हीं लोगों को स्थायी का आरोपात्मक साक्षात्कार या अनुमान होता है — सामाजिक के अपने स्थायी का नहीं। इस स्थिति में अब कुछ लोग यह आशंका खड़ी कर सकते हैं कि भट्टनायक भी जिस स्थायी को साधारणीकृत रूप में भुज्यमान मानते हैं, वह भी तटस्थ (अनुकार्य) का ही है। निष्कर्ष यह कि जो ताटस्थ्यवाली आपत्ति शेष दो आचार्यों में थी, वही इनके सामने भी रोड़ा बनकर खड़ी है। अनुकार्य की ही रति इनके मत में भुज्यमान होकर रसपदवी प्राप्त करती है। इस निष्कर्ष का समर्थन 'बालप्रिया'[19] तथा 'बालबोधिनी'[20] से भी होता है। इसी प्रश्न या आशंका का समाधान करते हुए 'बालप्रिया'कार का कहना है— 'तथा च भावनोपनीतो रामादिगतरत्यादिः स्थायी सहृदयैर्भुज्यमानो रसः रत्यादेः साधारण्येन प्रतीत्या च न ताटस्थ्यादि दोष. – इति भावः।' अर्थात् 'भावना' व्यापार से रामादि अनुकार्यगत स्थायी ही साधारणीकृत होकर सहृदयों द्वारा भुज्यमान होता है। फिर अन्यदीय स्थायी का (तटस्थ) सामाजिक से क्या संबंध है, इस प्रकार का प्रश्न ही अनावश्यक है। कारण यह कि वह जब साधारणीकृत है है तब भी उसका व्यक्तिगत संबंध बना ही रहा और जब नहीं रहा तब उसका संबंध किसी विशेष से जोड़कर इस प्रकार की आपत्ति ही क्यों खड़ी की जाय? अभिप्राय यह कि इस प्रकार इनके मत में ताटस्थ्य दोष नहीं आता। वामन ने भी काव्यप्रकाश की टीका में यही कहा है — 'अतएव असत्या अपि रतेरास्वाद अलौकिक-

१७. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १८६।

१८. तेन रामादिरत्यादिभिः सह सामाजिकरत्यादीनामभेदाध्यवसानम्। तेन रामादिरत्यादीनां सामाजिक प्रतिबाह्यत्वेन मानससाक्षात्काराख्य भोगानुपपत्तिः।—रसप्रदीप, पृ० २६, २७।

१९. ध्वन्यालोक लोचन की बालप्रिया टीका, पृ० १८३।

२०. काव्यप्रकाश पर झलकीकर वामन की बालबोधिनी टीका, पृ० ९१।

रस ष्ुपपद्य: ।' यद्यपि वह स्थायी सामाजिकगत है नहीं, फिर भी उसका आस्वाद होता है और इसी लिये उसे अलौकिक कहा जाता है। निष्कर्ष यह कि इन सब तर्कों से सिद्ध यह हुआ कि 'स्थायी' जो रसपदवी तक पहुँचता है, वह है वस्तुतः अन्यदीय ही पर उस तरह सामाजिक द्वारा गृहीत नहीं होता। इसका कारण दार्शनिक दृष्टि से क्या हो सकता है? रसप्रदीपकार ने भट्टनायक के मन मे उत्थापित इस आशंका का समाधान दिया है – मीमांसकों के अख्यातिवाद द्वारा[२१] और कहा है कि एतदर्थ सामाजिक को इतना ही जानना आवश्यक है कि वह यह न जाने कि इस स्थायी का संबंध उससे नहीं है, इतने मात्र से ही सब उद्देश्य सिद्ध हो जायगा। प्राभाकर मीमांसकों ने ऐसे ही स्थलो की व्याख्या मे 'असंसर्गाग्रह' या 'विवेकाग्रह' का उपयोग किया[२२] है। वस्तुत. मीमांसक 'भ्रम' नामक ज्ञान का भेद स्वीकार नहीं करते और ज्ञानमात्र को सही मानते हैं। जिसे और लोग भ्रम कहते हैं उसके विषय मे इतना कहना है कि वस्तुतः न वहाँ का विषयी (ज्ञान) गलत है और न विषय ही। असल में होता यह है कि वहाँ दो प्रकार के ज्ञान होते हैं — स्मरणात्मक और प्रत्यक्षात्मक। ज्योंही दर्शक शुक्तिका को देखता है, सदृशवस्तु के दर्शनवश अंतःकरण में प्रसुप्त रजत का संस्कार उभड़ आता है और रजत की स्मृति हो आती है। सो, वहाँ शुक्तिका का सामान्य रूप मे प्रत्यक्ष ज्ञान तथा स्मरणात्मक ज्ञान होता है। होता यह है कि दर्शक इन दोनो ज्ञानों का अंतर गृहीत नहीं कर पाता और दोनो को एक समझ लेता है यही असंसर्गाग्रह या विवेकाग्रह है अर्थात् बाह्य एवं आंतर विषयों का अभेद रूप में ग्रहण हो जाता है। ठीक इसी प्रकार बाह्य रामादि अनुकार्य का भावनाशक्ति द्वारा ज्ञात स्थायी, जो कि वस्तुत बाह्य है, का स्वकीय आंतर स्थायी से भेद गृहीत नहीं हो पाता और इस रूप से गृहीत होने पर ताटस्थ्य दोष का प्रश्न भी नहीं खड़ा होता।

इस प्रकार जहाँ तक 'भोग' की व्याख्या है, इन्हें 'सांख्य एवं 'वेदांत' से और जहाँ तक 'भावना' अथवा ताटस्थ्य दोष के निवारण का संबंध है – मीमांसा-दर्शन से प्रभावित माना गया है। यह सब इतना बखेड़ा इसलिये उठाया गया है कि स्वयं भट्टनायक की अपनी कृति उपलब्ध नहीं है। इस स्थिति मे प्रश्न यह खड़ा होता है कि इनके आधारभूत दर्शन तीनो हैं या एक अथवा दो?

जहाँ तक सांख्य और वेदांत की बात है, कांतिचंद्र पांडेय ने यह कहा है कि सांख्यदर्शन के अनुसार 'भोग' के लिये विषय एवं विषयी का तैजस एवं प्रतिबिंब-

२१. द फिलासफी आव् ईस्थेटिक प्लेजर, पृ० १२४।

२२. मुक्तावली, गुणनिरूपण खंड।

ग्राही अंतःकरण पर संबंध होना आवश्यक है जब कि अद्वैत वेदांत की आनंद निष्पत्ति मे संबंध की कोई अपेक्षा नहीं है।[23] इसलिये दोनों दृष्टियाँ परस्पर इतनी विरुद्ध हैं कि एक ही व्यक्ति एक ही स्थापना में दोनों को स्वीकार करे, संभव नहीं। इसी प्रकार अख्यातिवादी मीमांसा और अनिर्वचनीय ख्यातिवादी वेदांत भी अविरोधी नहीं है, फिर क्या हो?

मेरा अपना विचार यह है कि जब वेदांत की अविद्या भी त्रिगुणात्मिका है, तो क्यों न तद्गत सत्वोद्रेकवश ही आवरणभंग मानकर 'भोग' की व्याख्या की जाय और प्रभाकार ने की भी है। सांख्य छोड़ा जा सकता है, पर सांख्य के विपक्ष में वेदांत का सहारा नहीं छोड़ा जा सकता। कारण, 'लोचन' - गत 'भोग' का दिया हुआ स्वरूप जहाँ चित्स्वरूप - निर्वृति तथा 'परब्रह्मास्वादसविध' कहा गया है। ये बातें सांख्यमत से संमत नहीं हो सकतीं पर अद्वैतवाद - वेदांत मत से हो सकती है।

अस्तु, रहा मीमांसादर्शन सो भट्टनायक को मीमांसक मानने में कोई आपत्ति नहीं। यह भी मान लिया कि मीमांसा का ही प्रभाव होने से इन्होंने 'भावना' शब्द का प्रयोग किया। कारण, 'भावना' मीमांसकों का मूर्द्धन्य विवेच्य तत्व है। पर बहुत से ऐसे मीमांसक है, जो व्यवहारपक्ष से कर्मकांडोपयोगी विचारों को मानते हुए भी पारमार्थिक दृष्टि से अद्वैतवादियो की ओर झुके हुए हैं। वेदांती भी तो कहते हैं— 'व्यवहारे भाट्टनयः'—व्यवहार में कुमारिल का ही मत स्वीकार्य है, पर परमार्थतः अद्वैत ही स्वीकार्य है तो मीमांसकों की भावना के साथ भी यदि ये 'भोग' की अद्वैतवादी दृष्टि से व्याख्या करते हैं तो कोई असंगति नहीं। दूसरे भट्टनायक के वेदांतदर्शन की ओर पक्षपात का पता नाट्यशास्त्र की पहली कारिका की व्याख्या से भी चल सकता है। शैव दृष्टि यदि इनकी होती तो ये संसार को कल्पनामात्र सार और निस्सार न कहते।

हाँ, इतने पर भी एक विसंगति और रह जाती है और वह है अख्यातिवादी वेदांतविरोधी युक्ति। वेदांत की दृष्टि से जब उन्होंने एक समस्त नामरूपात्मक प्रपंच को अविद्याकल्पित और निस्सार कह दिया तब उन्होंने अनिर्वचनीय ख्याति भी स्वीकार ली और फिर एक ओर संसार को भ्रमात्मक सिद्ध करनेवाली अनिर्वचनीय ख्याति तथा दूसरी ओर संसार को सत्य माननेवाली अख्याति, इन दोनो का समन्वय किस प्रकार हो सकेगा? इसका उत्तर यह है कि रसप्रदीपकार की ओर से जो यह तर्क उपस्थित किया गया है, वह लौकिक अनुभूतियों की विसंगति को दूर करने के लिये। उसकी सहायता यदि यहाँ न भी ली जाय तब भी कोई विशेष क्षति

२३. कंपैरेटिव ईस्थेटिक्स, भाग १, पृ० ६८।

नहीं है। दूसरे स्थायी का साधारणीकरण हो जाने पर ताटस्थ्य का सवाल ही नहीं है, बाह्यता का सवाल ही नहीं है। फिर भी उसके समाधान के लिये इस लौकिक तर्क की अपेक्षा ? तीसरी बात, यदि ऐसा कोई भी समाधान भट्टनायक को अभीष्ट होता तो अभिनवगुप्त ने उसका निर्देश किया होता पर ऐसा कुछ है नहीं। इसलिये मेरा अपना विचार यही है कि 'भोग' की व्याख्या का आधार अद्वैत दर्शन (शाकर) ही है। हाँ, मीमासा की बात वहीं तक स्वीकार्य है जहाँ तक वह वेदात का अविरोधी है अर्थात् जहाँ तक 'भावना' का सवाल है। साधन 'भावना' की दार्शनिक भूमि मीमासा तथा 'साध्य' की पृष्ठभूमि शाकर अद्वैत अभी तक मुझे सगत जान पड़ी है।

डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने 'रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' म उपर्युक्त स्थापना के विरोध में कुछ युक्तियाँ रखी है—

१ – भट्टनायक के कतिपय श्लोक शैवागमिकों द्वारा उद्धृत हैं।

२ – अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत का जो स्वरूप किया है उसमें प्रयुक्त पदो की व्याख्या शैवागमो द्वारा ही ठीक ठीक हो पाती है।

३ – उन जैसे मीमासकाग्रणी का जितना मेल अद्वैतवादी शैवो से होता है उतना अद्वैती शाकर मत से नहीं।

४ – ब्रह्मणायदुदाहृतम् की भट्टनायकवाली व्याख्या शैवागम के अनुसार भी हो जाती है।

५ – जिस प्रकार 'भावना' शब्द इन्होंने मीमासा से लिया है, उसी प्रकार 'भोग' शब्द द्वैतवादी सिद्धात शैवागम से लिया है।

जहाँ तक पहले तर्क की बात है गुप्त जी ने तीन श्लोक उद्धृत किए हैं, जिनमें से एक 'सहृदयदर्पण' का शिवस्तुतिपरक मगलाचरण है। दूसरे मे 'हर' को 'स्वच्छद' विशेषण देते हुए स्तुति की गई है। तीसरे का उद्धरण क्षेमराज ने दिया है और उसकी सगति वेदात के विरुद्ध शैवदर्शन से लगाई है। श्लोक है—

नपुंसकमिद नाथ परब्रह्म फलेत् कियत्।
त्वत्पौरुषी नियोक्त्री चेन्न स्यात्त्वद्भक्तिसुदरी॥

इन तीनो श्लोकों मे से पहले तरह के श्लोक तो जाने कितने शाकर अद्वैतियों ने किए हैं। शाकर अद्वैती भक्ति की भूमिका पर प्रायः शिव के ही उपासक होते हैं और शिवपरक स्तुतियाँ और स्तोत्र रचा करते हैं। इसलिये शिवस्तुतिपरक श्लोकों के आधार पर किसी को निश्चित रूप से शैवागमानुयायी ही नहीं कहा जा सकता। रही बात उद्धरण देने की तो वह उद्धरण अपने अनुरूप बनाकर यदि अद्वैत शैवागमिक क्षेमराज अद्वैतवादी भट्टनायक के स्तोत्र का दे सकते हैं तो शाकर अद्वैतवादी

भट्टनायक का क्यों नहीं दे सकते ? 'परब्रह्म' की निर्गुण दशा के प्रति तुलसीदास भी भी कहते हैं —

अस प्रभु अछत हृदय अधिकारी।
सकल जीव जन दीन दुखारी॥

उसी प्रकार यहाँ भी 'परब्रह्म' की द्वैत भूमिक भक्ति का माध्यम लिए बिना अकारण मधुसूदन सरस्वती की भाँति कोई भी अद्वैती भक्त कह सकता है। यह तर्क भी भट्टनायक को असाधारण रूप से शैवागमिक ही सिद्ध नहीं करता।

दूसरा तर्क इसलिये महत्वपूर्ण नहीं है कि 'लोचन' या 'अभिनव भारती' में 'भोग' का जो स्वरूप जिन शब्दों से उद्धृत किया गया है वे शब्द भट्टनायक के अपने नहीं है। यदि वे शब्द भट्टनायक के होते तो दोनों स्थानों पर एक ही पदावली होती, जब कि एक ही पदावली नहीं है। शाकर एव शैवागम मत मे बहुत दूर तक साम्य होने के कारण जिस प्रकार अभिनवगुप्त के मत को पडितराज जगन्नाथ ने शाकर अद्वैत का रूप दे दिया, हो सकता है उसी प्रकार अभिनव गुप्त ने भी शाकर अद्वैतानुरोधी भट्टनायक की व्याख्या को शैवागमिक पदावलियों द्वारा उपस्थित कर दिया हो।

तीसरे तर्क द्वारा मीमासक भट्टनायक का शाकर अद्वैती होने की अपेक्षा द्वैतशैवागमिक होना कहीं अधिक तर्कसगत समझा गया है। इस विषय में मेरा यह कहना है कि जब शांकर अद्वैती 'व्यवहार भाट्टनयः' मानकर उनसे अपना अविरोध मानते हैं तो मीमांसा म अटूट आस्था रखनेवाले अद्वैती अप्पय दीक्षित की भाँति मीमासक भट्टनायक को शाकर अद्वैती कहने मे या मानने मे क्या आपत्ति है ?

चौथा तर्क जो भट्टनायक के उद्धरण से सबधित है, उसके विषय में तो स्वयं गुप्त जी का मत है कि उन पक्तियों की व्याख्या शाकर अद्वैत एव शैवागम की दृष्टि से भी हो सकती है। बल्कि यहाँ तो यह सदेह होता है कि गुप्त जी के अनुसार भट्टनायक द्वैतवादी है फिर द्वैतवादी या भेदवादी व्यक्ति 'भेद' का ही खडन कैसे करेगा, जैसा कि उद्धृत अश मे है। दूसरी बात यह कि शैवागमों मे 'पारमेश्वरशक्तिपरक' 'दीक्षा' तथा उपाय द्वारा परमप्रमर्थ प्राप्ति की बात कही जाती है, उक्त उद्धरण में श्रवण, मनन आदि वेदात की पदावली का सहारा लिया गया है और उसके द्वारा परमप्रमर्थ प्राप्ति की बात कही गई है। उक्त उद्धृत अश की सगति द्वैतवाद की दृष्टि से भट्टनायक कभी नहीं कह सकते। और सच्चा द्वैतवादी अद्वैती दृष्टि क्यों अपनाएगा ? उद्धृत अंश में सकल नाम रूपात्मक प्रपच को जो मिथ्या एव निस्सार कहा गया है – वह शांकर अद्वैत मत से ज्यादा सुकरता के साथ व्याख्येय है। यह भी ध्यान देने की बात है कि शैवागम के छत्तीस तत्वों मे माया तथा विद्या का तत्व तो है पर अविद्या नाम का

कोई तत्त्व — जो सकल नाम रूपात्मक प्रपञ्च का मूल हो — नहीं कहा गया। 'विद्या' कंचुक को ही यदि अविद्या कहा जाय तो वह केवल 'सर्वज्ञता' का सकोचक है इसके अतिरिक्त उसका दूसरा कोई कार्य नहीं है। गुप्तजी ने उद्धृत अंश मे प्रयुक्त 'स्वप्नादिविलक्षणम्' को जगत् का विशेषण समझकर जो शाकर अद्वैत से भेद प्रकट किया है कि शाकर अद्वैत मे जगत् 'स्वप्नकल्प' है, पर भट्टनायक ने उसे 'स्वप्नादि-विलक्षणम्' कहा है — वह भी ठीक नहीं। 'स्वप्नादिविलक्षणम्' वहाँ 'जगत्' का नहीं, प्रत्युत् 'नाट्य' का विशेषण है। तभी 'स्वप्न' में 'आदि' पद का जोड़ सार्थक होगा क्योंकि अभिनव आदि ने नाट्यप्रतीति को स्वप्न आदि लौकिक प्रतीतियों से भिन्न माना है। 'असत्य भाति' की उक्ति जितना अनिर्वचनीयख्याति से मेल खाती है उतना 'आभासख्याति' से नहीं। 'स्वप्नादिविलक्षणम्' का पाठभेद 'स्वप्नाद-विलक्षणम्' भी हो सकता है।

पाँचवाँ तर्क इसलिये कोई महत्त्व नहीं रखता कि जब सामान्य तर्कों से भट्ट-नायक की आस्था शाकर अद्वैत से सिद्ध होती है तो केवल कहीं से एक शब्द उधार ले लेने के कारण वे दूसरों के नहीं हो सकते।

इस तरह ये विरोधी तर्क मेरी स्थापना मे कोई प्रतिरोध नहीं उत्पन्न करते।

❀

लिपि की सत्ता और साम्राज्य

भगवतशरण उपाध्याय

लिपि का महत्व भाषा से कुछ ही घटकर है। भाषा, और उससे बढ़कर साहित्य, की रक्षा का श्रेय लिपि को ही है। जैसे, भाषा मनुष्य द्वारा विकसित होकर स्वय उसने मनुष्य के व्यक्तित्व और समाज का विकास किया है वैसे ही लिपि ने भी मनुष्य के विचारो को स्थायित्व देकर उसका विकास और प्रसार किया है। आज के विविध साहित्यों की रक्षा का एकमात्र श्रेय लिपि को है।

ऐसा नहीं कि लिपि से स्वतत्र और उसके आविष्कार के पहले भाषा अथवा साहित्य का अस्तित्व न रहा हो। लिपि के आविष्कार से सुदूरपूर्व भाषा और साहित्य का समुदय हो चुका था, पहले भाषा का फिर साहित्य का। ऋग्वेद आदि सहिताओं के निर्माण के पहले उनका साहित्य बन चुका था और गेय अथवा अगेय स्थिति मे प्राचीन आर्यों मे व्यवहृत होता था। उनसे बहुत पहले सुमेरी-बाबुली 'गिल्गमेश' महाकाव्य का प्रचार सुमेरी लिपि के उदय से पूर्व आज से प्रायः पॉच हजार वर्ष पहले दजला और फरात के द्वाब मे प्रचलित हो चुका था, जैसे प्रोमेथियस और सपाती के सूर्यपर्यंत अभियान की कथाओं का आदि बीज सुमेरी सूर्य और गरुड़ की कहानी मे कब का अकुरित हो चुका था। मिस्री पिरामिडों की चित्र-लिपि मे अभिलिखित मृत्यु सबधी कथानकों से कहीं पहले उनका कथन श्रवण नील नदी के तीर आरभ हो गया था। होमर के महाकाव्यों 'इलियद' और 'ओदिसी' के ग्रीकाक्षरों मे लिखे जाने से कहीं पूर्व 'रामायण - महाभारत' के आदिम चरणों की ही भाँति, उनका गायन थेसाली के सागर तक के नगरों मे तत्रीनाद की सहायता से प्रचलित किया जा चुका था।

परतु उनका प्रचलन, प्रचार और सरक्षण तभी तक सभव था जब तक विकासोन्मुख मानव भी अपनी आदिम अवस्था मे ही विचरण करता रहता। मानव निरंतर प्रगतिशील होने के कारण, अपनी जिज्ञासा से उद्वेलित सर्वत्र ताका झाँका करता है और अपने अद्यावधि ज्ञान के पूर्व तो वह और भी अधिक जिज्ञासु था। जिस प्रकार प्रौढ़ इतनी जिज्ञासा से नहीं सचलित होता जितना अपने ज्ञान की रक्षा से प्रेरित, प्राप्त धन की ही भाँति उसकी रक्षा के लिये चिंतित, और बालक नित-नवीन प्रश्नात्मक प्रवृत्ति से जागरूक होता है। उसी प्रकार आरभ का मानव भी बालक की ही

तरह आशुबोध न होकर प्रश्नमुखर था और ज्ञान राशीभूत न होने के कारण उसकी दृष्टि उसपर सकेंद्रित न होकर भ्रमणशील थी, निरतर शंकायुक्त खोज मे प्रवृत्त रहती थी। उसका आकाशवत् रिक्त जीवन अपने उद्गीरित गायन को आकाश में बारबार पारायण के द्वारा सरक्षित करने में सफल हुआ। पर यह जीवन की निरतर बदलती जाती परिस्थितियों में कायम रहना समव न था। नित्य नवीन उपलब्धियों से जो नवजीवन भर चला तो स्मृति मे नए और पुराने का एक जगल उग आया और यह समव न था कि अब के व्यस्त जीवन मे पहले की भाँति साहित्य की थाती स्मृति में सँभालकर रखी जा सके। उसका न केवल विकृत हो जाना बल्कि सर्वथा विलुप्त हो जाना स्वाभाविक था जब तक कि कोई ऐसा उपाय मनुष्य न कर ले जिसके द्वारा साहित्य आदि का अपना प्राचीन वैभव सुरक्षित कर वह नए कार्यों में सलग्न हो सके।

वह उपाय मनुष्य ने ढूँढ़ा और पाया और उसे उसने 'लिपि' मे कहा। इस लिपि अथवा लिखावट में उसने भाषा को प्रतीकतः साधा और प्रतीक कालातर में अक्षर अथवा वर्ण बन गए। और, उस प्रतीक तथा अक्षर अथवा वर्ण के बीच का कालप्रसार असाधारण बड़ा था। किन परिस्थितियो म मानव जाति के किस समुदाय ने किस देश मे लिपि का आविष्कार किया इसका कोई सही विवरण उपलब्ध नहीं है, उसके समुदय का मात्र अटकल लगाया जा सकता है। पर इसमे सदेह नहीं कि प्रारभिक लिपि प्रतीकात्मक थी और उसके प्रतीक चित्र थे।

लिपि के अभ्युदय का रूप प्रथमत: चित्रात्मक था। उसके तीन असाधारण उदाहरण लिपि के इतिहास म आज उपलब्ध हैं — १ – मिस्री चित्रलिपि, २ – चीनी चित्रलिपि, ३ – मायन चित्रलिपि। मेक्सिको पेरू, मय आदि के इका आदि अमरीकी इंडियनों की लिपि भी चित्रलिपि ही है। उसका व्यवहार उनकी छीजती सख्या की ही भाँति निरतर घटता जा रहा है। यह लिपि अत्यत प्राचीन भी नहीं, ईसा के बाद ही उसका उदय हुआ है, तब तक अनेक चित्रलिपियाँ अपने स्वरादि भेद से संयुक्त वर्णमाला की स्थिति तक पहुँच चुकी थीं और इससे प्रकट है कि वह सभ्यता अमेरिका मे, अपने विविध रुचिर भग्नावशेषों के बावजूद, यात्रिक सभ्यता के विकसित मार्ग पर विशेष न चल सकी।

चीनी लिपि आज भी चित्रात्मक है और उस साधारण विचार और विश्वास को गलत प्रमाणित करने में सहज समर्थ है कि चित्रलिपि मे पेचीदा विचार अथवा समुन्नत साहित्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इस सबध मे यहाँ अतत. कुछ न कहकर हम अन्यत्र कहेगे जिसके द्वद्वात्मक कारण से ही यह समव हो सका है।

मिस्री चित्रलिपि एक ऐसी लिखावट है जिसमे आरभ के चित्र प्रतीकों से लेकर वर्णमाला के आविष्कार की अवधि तक की समस्त मजिलों का समावेश प्रस्तुत

है। पिरामिडों में सुरक्षित मंदिरों आदि की दीवारों पर अभिलिखित मिस्री चित्रलिपि मानव, पक्षी, सूर्य आदि की आकृतियों द्वारा भावों को व्यक्त करती है। परतु, जैसा अन्यत्र संकेत किया जा चुका है, चित्रलिपि मात्र सादे कथनों या वर्णनों को व्यक्त कर सकती है, पेचदार अथवा वैकल्पिक भाषा या भावात्मक (इमोशनल) साहित्य की अभिव्यक्ति वह नहीं कर सकती। यही कारण था कि कालातर में प्रायः प्रत्येक हजार दो हजार सालों बाद उसे अपनी चित्रलिपि में परिवर्तन करने पड़े और परिणाम यह हुआ कि आज हमे नील नद की उस घाटी में बदलती और विकसित होती हुई सभ्यता के समानातर विचारों के प्रकाशन के निमित्त प्रयुक्त तीन, एक से एक प्रसूत, लेखन-विधियाँ उपलब्ध है जिनका उस सभ्यता मे आदि अंततः उपयोग हुआ है। इनमें से पहली लिपि, जैसा अनायास प्रकट है, प्राकृतिक आकृतियोंवाली शुद्ध चित्रलिपि है, दूसरी विचारो के प्रतीकों के सदर्भ मे प्रयुक्त होनेवाली 'हिरेटिक' अथवा पुरोहितों की लिपि है और उसी से विकसित अतिम लिपि वह है जिसमे अब मिस्री भाषा का प्रयोग न होकर मिस्र के नए ग्रीक प्रभुओं तोलेमी आदि की ग्रीक भाषा का प्रयोग होने लगा, जिसमे स्वर व्यजनादि वर्णों का विन्यास आर्य रीति से संभव हुआ और इस स्थिति म सास्कृतिक रूप से 'सामी' तथा 'आर्य' अभिव्यक्ति सयुक्त एकत्र हो गई।

इस अतिम स्थिति तक मिस्री चित्रलिपि के पहुँचने मे सुमेरी बाबुली लिपि भी विशेष सहायक हुई जहाँ विचारलिपि का उदय मिस्री विचारलिपि से पहले से हो चुका था और दजला तथा फरात के द्वाब पर मिस्री राजाओं के शासन तथा बाबुली-असूरी राजाओं के मिस्र के ऊपर शासन के कारण इस परिस्थिति का सहज सभव हो जाना स्वाभाविक था।

जिन परिस्थितियों से गुजर कर मिस्री चित्रलिपि बाबुली, ग्रीक आदि के संयोग से वर्णात्मक बनी वे सारी परिस्थितियाँ चीनी लिपि मे एकत्र और एक ही दिशा मे, एक ही लिपिविकास मे, समाहित हुई और चीनियों के अपनी लिपि को ही प्रयुक्त करने के सकल्प के कारण वे परिस्थितियाँ निर्विघ्न नियोजित होकर अद्यावधि चीनी भाषा और साहित्य लिखती रहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि वह प्राचीन चित्रलिपि आजतक प्रयुक्त होती है, हो रही है और चूंकि प्रतीकात्मक लिपि में अनत प्रतीकों का उपयोग होता है, आज की चीनी लिपि मे भी, उसके प्रतीकों को कम करने के उपक्रमों के बावजूद, अनंत चिह्न व्यवहृत होते है। अन्य बाहरी प्रभावों के कारण मिस्र बाबुल आदि की चित्रलिपियों मे बड़ी तीव्रता से वर्णात्मक बोध की ओर लिपि का विकास होता गया, उन्हीं बाह्य प्रभावों के अभाव के कारण चीनी लिपि अपने ही चिह्नपरिणामों मे विकसित होती गई और आज भी उसके प्रतीकों का दर्शन उस लिपि में सर्वत्र उपलब्ध है।

इन चित्रलिपियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी हैं जो अब तक पढ़ी न जा सकीं। सिंधु सभ्यता की मुहरों की लिखावट विचित्र है जिसका समुदय प्रायः तभी हुआ था जब मिस्री और सुमेरी चित्रलिपियों का हुआ था। परंतु कुछ कारणों से मोहन जोदड़ो की लिपि का विकास लुप्त हो गया और आज हम न सैंधव लिपि के पहले के आधार को जानते हैं, न उसके पीछे के विकास को। वस्तुत. उसका विकास हुआ ही नहीं क्योंकि उस सभ्यता की मुहरों से अलग हमें उस लिपि के उदाहरण उपलब्ध नहीं।

सैंधव लिपि की ही भाँति क्रीत की वह ईजिआई लिपि भी अब तक नहीं पढ़ी जा सकी जिसका विकास होमर के महाकाव्यों में वर्णित ग्रीक आक्रामक जातियों के अभ्युत्थान के पूर्व ही हो चुका था और जिसका प्रसार क्रीत से आय तक कभी अविच्छिन्न रहा था।

भारतीय सैंधव, चीनी और अमरीकी मय आदिकों की चित्रलिपियों के अतिरिक्त, जो अपने आप तक सीमित रहीं, अन्य सारी लिपियाँ कालांतर में सुमेरी लिपि से प्रभावित और उसी के विकास के माध्यम से विकसित हुईं जिनकी ओर नीचे अब संकेत करेंगे। पर उससे पहले यह आवश्यक है कि चित्रलिपि के वर्णावधि पर्यंत विकास के संबंध में एकाध मूलतत्व यहाँ स्पष्ट कर दिए जायँ। पहली बात तो यह है कि चित्रलिपि आकृतिजन्य होने के कारण चाक्षुष अनुभूति थी, ध्वनिपरक अथवा श्रोत्रग्राह्य नहीं। उसमें आकृतियों का तारतम्य होने के कारण उसको समझने का प्रयत्न आँखों को करना होता था। परंतु यद्यपि लगता है कि उसे समझने के लिये केवल आँखों को उपक्रम करने पड़ते थे पर था ऐसा नहीं। वस्तुत. चित्रलिपि द्वारा लिखी इबारत को समझने के लिये आँखों के अतिरिक्त, अत्यंत उनसे कहीं अधिक दिमाग को काम में लाने की आवश्यकता होती थी। उसके द्वारा कहा कम जाता था 'बूझा' अधिक जाता था, यानी अटकल की गुंजाइश बिना उसको पढ़ सकना आसान न था। एक उदाहरण लें—उदाहरण वैसे उस मिस्री भाषा का नहीं है जो चित्रलिपि में लिखी जाती थी बल्कि भारत-यूरोपीय भाषा का है और इसलिये चुना गया है कि इसमें विविध सभ्यताओं के समाहार के अतिरिक्त और उसी के कारण कालक्रमिकता का भी समावेश है—'बर्बर' (शुद्ध प्राचीन तरीके से संभवतः 'बरबर') शब्द संस्कृत और भारतीय भी है और भारत-यूरोपीय भी। परंतु उसका आरंभ चित्रलिपिकाल में ही हो गया प्रमाणित होता है क्योंकि जिस सार्थक ध्वनि का आज यह शब्द प्रेषक है उसकी सार्थकता वस्तुतः चित्रलिपिक है। 'बर' वही है जो 'बड़' है, जो अपनी प्राकृतिक अवस्था से संस्कार द्वारा संस्कृत 'वट' बना जिसका अर्थ है बरगद का पेड़। बरगद की अनंत फैली डालियों और उसकी डालियों से जटाओं का लटक लटक कर भूमि में अंकुरित हो होकर अनंत वट बन जाना एक जंगल का

रूप खड़ा कर देना है। यदि बरगद को अमर्यादित अलूनित छोड़ दिया जाय तो वह अकेला ही प्रायः जंगल का रूप धारण कर लेगा। पर उस अकेले वन्य वृक्ष को पर्याप्त अर्थवाहक न समझकर चित्रलिपि मे उसको द्विगुण करके दो बार उसका चित्र बनाते रहे होंगे जिसे पढ़कर बोलने वाला व्यक्ति न केवल एक बार बल्कि, जैसा चित्र में लिखा है, दो बार 'बर बर' पढ़ेगा जिसका अर्थ हुआ जगल और जिससे अंगरेजी का जागल्य विशेषण बना 'बारबरिक', जिसका अर्थ अगरेजी मे 'सैवेज' यानी बनैला हुआ। इस उदाहरण का परिवेश बड़ा है क्योंकि यह 'हामी' (हेमेटिक) और दोनों भाषागत परिस्थियों का बोध कराता है। अपने चित्रगत सास्कृतिक रूप मे तो यह 'हामी' है पर ध्वन्यात्मक रूप मे 'आर्य' अथवा भारत यूरोपीय और इसका क्रमिक प्रसार पहली से दूसरी स्थिति तक 'सामी' अथवा बाबुली असूरी माध्यम से हुआ क्योंकि ग्रीक आदि यूरोपीय आर्यजातियों से मिस्र का सपर्क परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष था, बाबुल आदि का पूर्व की ओर ईरानी भारतीय आर्यों और पश्चिम की ओर ग्रीक आदि आर्य जातियों से अपरोक्ष या प्रत्यक्ष था।

भाषा की चित्रस्थिति किसी न किसी काल बाबुल और सुमेर म भी मिस्र की ही भाँति अनजानी न थी और उसक प्रमाण भी सर्वथा अनुपलब्ध नहीं। पर निःसन्देह सुमेरी लिपि के हजारो अभिलेखों की प्रारम्भिक लिपि वह बीच की 'विचारात्मक' है जिसे 'इडियोग्रैफिक' कहते है और जो लिपि क विकास म चित्राकृतिक स्थिति के बाद ही प्रयुक्त हुई। उदाहरण क लिये उसका एक ऐसा शब्द लें जिसम आकृति और ध्वनिपरक विचार दोनो निहित है। शब्द अंग्रजी का ले रहा हू जिसम एक अतर्जातीय लिपि का परिवेश मुखर हो। 'बिकम' शब्द का अर्थ है, होना। अगर इस शब्द को चित्रलिपि के बाद की विचारात्मक स्थिति मे लिखा जाय तो इसके पिछले अश 'कम' को हम चाहे जिस तरह लिखें, इसके पहले अश यानी 'ब' अथवा 'बी' को हम शहद की मक्खी के रूप मे चित्रित करेंगे, (जिसके लिये अंगरेजी शब्द 'बी' व्यवहृत होता है) और चमत्कार यह कि यद्यपि हम लिखेंगे उसको शहद की मक्खी की आकृति मे पर पढ़ेंगे 'होने' क अर्थवाले 'बिकम' के पूर्वांश 'बि' के अर्थ मे। अब यह उस स्थिति की ओर सकेत करता है जिसमे चित्र का चाक्षुष रूप विचार की ध्वनि मे श्रोत्रग्राह्य रूप मे परिवर्तित हो चला था। अब चित्र न केवल पदार्थों का बोधक था बल्कि पदार्थों के नामों का बोधक था, जिन नामो का प्रयोग उन नामों से भिन्न दशाओ म भी होने लगा था।

चित्र में—चित्रलिपि में—पदार्थ अथवा उसका अंकित रूप स्थावर (स्टैटिक) है, पर भाषा में पदार्थ का वह नाम न केवल ध्वन्यात्मक बल्कि जगम (डिनैमिक) है। अर्थात् नामरूप मे, ध्वनिरूप में, चित्रलिपि का पदार्थ, बिना उसकी आकृति को लिपि से हटाए, अन्यत्र और स्वतत्र रूप से भी, केवल ध्वनि के धोखे में भी,

प्रयुक्त होता हुआ सर्वथा विभिन्न पदार्थों अथवा दशाओं को व्यक्त कर सकता है। यही चित्रलिपि का 'विचारात्मक' (इडियोग्रैफिक) संक्रमण है, ध्वन्यात्मक वर्ण की ओर। पहले चित्र है फिर विचार और अंत मे वर्ण। वर्ण संकेत है, ध्वन्यात्मक संकेत, लिपि भाषा का प्रतीकात्मक चिह्न। विचार दोनों के बीच की कड़ी है और उस स्थिति की ओर संकेत करता है जिसमें चित्रगत पदार्थ से पदार्थ को छोड़ मात्र उसका नाम, ध्वन्यात्मक भाषागत नाम, लेकर उसे अन्यत्र उसी ध्वनि में, पर नितांत भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। उदाहरण के लिये एक नितांत साधारण और घरेलू वाक्य लें—गया गया गया। इसमे पहला 'गया' व्यक्तिवाचक है, दूसरा 'गया' स्थानवाचक है और तीसरा 'गया' क्रियापद है। तीनों तीन विभिन्न पदार्थों और दशाओं को व्यक्त करते हैं और यद्यपि उनका संबंध चित्रलिपि अथवा विचार-लिपि से नहीं है, उनकी बदलती हुई परिस्थियों को प्रकट करनेवाले सार्थक ध्वनिक्रम का जितना उद्घाटन यह वाक्य करता है उतना अन्य कोई उदाहरण, किसी भाषा का, नहीं करता।

जो बाबुली असूरी अभिलेखपट्टिकाएँ उपलब्ध है वे प्राचीन सुमेरी लिपि पर आधारित हैं जिनका प्रारंभिक रूप विचारलिपि के संक्रमण को अंकित करता है। उस रूप मे जैसे वृषभ का रूप बदल कर मात्र चिह्न रह गया है, मात्र संकेत, वृषभ का रूप नहीं और वही चिह्न अन्यार्थ म आनेवाली वृषभ ध्वनि को भी सूचित करने लगा है। तात्पर्य यह कि अब आकृति परोक्ष हो गइ है और ध्वनि प्रत्यक्ष तथा प्रधान। ध्वनिप्रधान होते ही वर्ण क आगम अनिवार्य हो जाता है, ध्वन्यात्मक संकेत अथवा चिह्न का। और यह वर्ण पहले व्यंजन के रूप में आता है फिर स्वरात्मक व्यंजन के रूप मे। उच्चारण की दशा मे कोई व्यंजन निःसंदेह स्वरविरहित नहीं हो सकता, यह प्रायः स्वतः सत्य है। पर स्वरविरहित व्यंजन लिपि में अस्तित्व रखता है यह न केवल तर्कसत्य है पर प्रमाणसत्य भी। वस्तुतः स्वरमिश्रित व्यंजन का सुमेरी लिपि में सर्वथा अभाव है। वहाँ स्वर का अस्तित्व निश्चय है पर मात्र उसके उच्चारण म, लिखावट मे वह व्यंजन मात्र है। जैसे, यदि 'काल' लिखना हुआ तो केवल 'क' और 'ल' ही लिखा जायगा जिसको चाहे हम आज स्वाभाविक ही 'कल' पढ़ने की गलती कर सकते हैं पर सुमेरी अथवा बाबुली बोलनेवाला उसे 'कल' न पढकर 'काल' ही पढेगा, यद्यपि 'क' और 'ल' मात्र के अंतर मे गर्भायित स्वर के सभी रूप विद्यमान हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, औ, सभी। यही कारण है कि सुमेरी, बाबुली, असूरी, फिनीकी, इब्रानी के ही क्रम में अंततः विकसित होनेवाली अरबी लिपियों में भी आरंभ मे इन स्वरों का अभाव था जिनकी पूर्ति ईरानियों की भाषा फारसी के प्रभाव से 'जेर', 'पेश' आदि के स्वरचिह्नों द्वारा की गई। पर यह न भूलना चाहिए कि ईरानी आर्य थे, फारसी आर्यभाषा थी, और

कि स्वर का लिपियों में विन्यास आर्य भाषाओं की एक विशेषता थी। आर्य ग्रीकों ने जब फिनीकी इब्रानी से प्राचीन सुमेरी बाबुली लिपि के आधार पर अपनी आर्य लिपि बनाई तो उसमे विशेष रूप से स्वरों की वृद्धि की और उलटकर दाहिने से बाएँ की जगह बाएँ से दाहिनी ओर को अपनी नई अथवा मात्र सीखी लिपि को लिखना आरम्भ किया।

यह तो हुआ लिपि की सत्ता का इतिहास, अब उसके साम्राज्य की परिधियों पर कुछ विचार करें। सुमेरी लिपि का साम्राज्य इतना विस्तृत है, उसके ओर छोर इतनी दूर तक फैले हुए हैं कि कहा जा सकता है कि (आज भी किसी न किसी रूप में प्रयुक्त होनेवाली) चित्रलिपियों को छोड़, संसार में प्रयुक्त होनेवाली आज की समस्त लिपियाँ मूलतः सुमेरी हैं, उसी मूलाधार से विविध जातियों द्वारा विकसित हुई हैं। दजला फरात नदियों के मुहानों पर फ़ारस की खाड़ी के तीर और उन नदियों की धाराओं के तट के प्राचीन ईराकी नगरों मे सुमेरी सस्कृति फली फूली जो कम से कम सामी न थी, यद्यपि उसके आर्य होने के भी कतई प्रमाण नहीं मिलते, बल्कि विरोधी तत्व ही मिलते हैं। ईसा पूर्व तृतीय सहस्राब्दी के आरम में सामी बाबुलियों ने जब गैरसामी सुमेरी के नगरों को जीत लिया तब, अपने पास जीवन का कोई दर्शन न होने के कारण, उन्होंने समूची सुमेरी सभ्यता को उसकी लिपि और देवताओं के साथ अपना लिया। सुमेरी भाषा तो उन्होंने छोड़ दी, भाषा उन्होंने अपनी बाबुली ही रखी, पर समूची सुमेरी लिपि का वे अपने अभिलेखों में प्रयोग करने लगे। चूँकि यह संभव न था कि एक समूची सस्कृति को स्वायत्त करते हुए उसकी भाषा को छोड़, मात्र उसकी लिपि को लिया जाय, लिपि के साथ साथ भाषा के कुछ अशों का आजाना अनिवार्य था। बाबुलियों को मानव जाति का प्रथम कोश – सुमेरी बाबुली समानार्थक शब्दों की एक लबी सूची – समानातर स्तभों में प्रस्तुत करना पड़ा।

बाबुली लिपि को उस संस्कृति के साथ साथ उन असुरों ने ले लिया, जो दजला फरात के उपरले द्वाब में बाबुली ससार के उत्तर में रहते थे, जिनकी जाति का नाम 'असुर' था, देवता का नाम 'असुर' था, राजधानी का नाम 'असुर' था– जिसकी खुदाइयों से अनत भग्नावशेष हाल में प्राप्त हुए हैं। असुर कालातर मे न केवल बाबुली साम्राज्य के स्वामी हुए बल्कि दक्षिणी रूस, आरमीनियाँ, तुर्की, ग्रीस पर्यंत पश्चिम, फिनीकिया, इसरायल, मिस्र, अरब और ईरान के समूचे भूखड के अधिकारी हो गए। जहाँ जहाँ असूरियों अथवा असुरों का साम्राज्य पहुँचा वहाँ वहाँ इस सुमेरी लिपि की सत्ता का भी विकास हुआ जिसकी लिखावट के कीलाकृतिक, कीलाक्षार, क्यूनीफार्म (अर्थात् कील अथवा खूँटे की आकृति) आदि अनेक नाम पड़े और जिससे लिखी पट्टिकाएँ ससार में दूर दूर के सग्रहालयों में आज अटी पड़ी हैं। उनका संचय इतिहास के पहले पुराविद् असूरी सम्राट असुरबनिपाल ने सातवीं

सदी ईसवी पूर्व में अपनी राजधानी निनेवे के ग्रंथागार में किया जिसकी अनंत संपदा पिछली खुदाइयों मे आज के मानव को पैतृक दाय के रूप में प्राप्त हुई है।

वह लिपि दाहिने से बाएँ को लिखी जाती थी अथवा कभी कभी दाहिने से बाएँ एक पंक्ति, फिर बाएँ से दाहिने, दूसरी पंक्ति और फिर दाहिने से बाएँ तीसरी—इसी क्रम से—जिसे लाक्षणिक रूप से पश्चिम के विद्वान् 'बूस्त्रोफेदन' कहते हैं। इस लिपि का असूरी उपयोग तो ई० पू० सातवीं सदी तक चलता रहा, जिसके प्रभाव से हजरत मुहम्मद के प्रादुर्भाव के लगभग हजार वर्ष पूर्व दक्षिणी अरब मे सुमेरी असूरी लिपि में अभिलेख लिखे जाते रहे। पर ईसवी पूर्व तृतीय सहस्राब्दी से छठी सदी तक जो दजला और फरात नदियों के बीच इस लिपि का विकास हुआ उस कालक्रम के समानांतर ही अन्य जातियों – सामी और गैरसामी – की लिखावटें भी इसी के संयोग से बनती, वस्तुतः मात्र यही स्थानीय विशेषताओं के साथ, प्रयुक्त होती रहीं। ईसा पूर्व १७वीं से १०वीं सदी तक एशिया के उस पश्चिमी जगत् पर सत्तारूढ यूरोपीय आर्य खत्तियों (हिटाइट्स्) ने भी उसी लिपि का अपनी आर्य भाषा के अभिलेख लिखने मे उपयोग किया। उनकी प्राचीन राजधानी के परवर्ती स्थान बोगाज़कोई से जो हजारों पट्टिकाएँ मिली हैं वे इसी लिपि में लिखी गई थीं। इन्हीं में भारतीय आर्यों के संक्रमण पर प्रकाश डालनेवाली वह पट्टिका भी है जो खत्तियों और मितन्नियों का युद्धांतक संधिपट्ट है जिसमें ऋग्वैदिक देवताओं—इंद्र, वरुण, नासत्यौ (अश्विनीकुमार)—के नाम साक्षी देवताओं के रूप में खुदे हैं। इसी लिपि में खत्तियों की रानी ने अंतर्जातीय कानून और शांति का पहला आधार प्रस्तुत करते हुए युद्ध को रोकने के लिये अपना पत्र मिस्र के फराऊन को लिखा था और इसी लिपि में फराऊन ने उसे उत्तर दिया था। इसी लिपि का उपयोग आज के आरमीनियाँ के प्रतिनिधि नगर येरेवान के प्राचीन पूर्ववर्ती उरार्तु (जिसकी नामध्वनि आज भी उत्तर पूर्वी तुर्की के पर्वत 'अरारात' मे सुरक्षित है) के राजवंश करते थे। पश्चिम और दक्षिण मे उसी लिपि का व्यवहार फिलिस्तीन के यहूदी इस्रायलियों ने किया और अपनी इब्रानी भाषा को उसी प्राचीन सुमेरी बाबुली लिपि के विकसित रूप में लिखा जो बायबिल की पुरानी पोथी के मूल पंचवर्ग (पेंतुतुख) के संरक्षण में प्रयुक्त हुई।

इब्रानी भाषा को सुमेरी बाबुली लिपि मे लिखनेवाली यहूदी जाति एक धारा थी, जिसकी दूसरी धारा फिनीकी (फिनीशियन) कहलाई जिसने भूमध्यसागरवर्ती समूची चतुर्दिक् भूमि पर अपनी सांस्कृतिक राजनीतिक प्रभुता कायम की। जिस प्रकार आधुनिक जगत् में इस्रायली यहूदियों की वित्त के क्षेत्र में तूती बोलती रही है उसी प्रकार प्राचीन काल मे एशिया के पश्चिमी, अफ्रीका के उत्तरी और यूरोप के दक्षिणी संसार में फिनीकियों का सदियों बोलबाला रहा। उन्होंने ही मानव इतिहास के पहले सिक्के चलाए और बैंकिंग का निर्माण कर 'हुंडी' और 'चेक' प्रचलित किए और

उनका यह समूचा व्यावसायिक व्यापार सुमेरी बाबुली लिपि में ही होता था जिस लिपि को ग्रीकों ने 'फिनीकी' कहा। फिनीकियों की शक्ति और संस्कृति के केंद्र तब भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर बसे तीर और सीदोम थे, उसके दक्षिणी तट पर बसा वह कार्थेज था जिसने रोम की सत्ता को उठने न दिया और जिसके और रोम के बीच प्रायः तीन सदियों तक युद्ध चलता रहा जिसका अंत जामा के मैदान में हुआ जिसके यहूदी नायक हानिबाल को अंत मे पूर्व के ग्रीक नगर मे जहर में घूँट पीकर मरना पड़ा।

इसी फिनीकी माध्यम से इब्रानी वर्णपरपरा अपने सुमेरी बाबुली आधार से उठकर ग्रीक आयो की वर्णमाला बनी जो न केवल अब आर्य सपर्क मे आई और ग्रीक महाकाव्यों तथा अन्य साहित्यों के सरक्षण का आधार बनी बल्कि यूरोप और अमरीका मे प्रयुक्त होने वाली (रेड इंडियनों, मायन, इंको आदि की चित्रलिपि को छोड़) समस्त लिपियों की जननी बनी। इस सुमेरी बाबुली लिपि की दूरवर्ती ग्रीक दुहिता से ही प्रजनित ग्रीस से रूस पर्यंत समस्त पूर्वी यूरोपीय लिपियाँ प्रचलित हुई और पश्चिम मे इत्रुस्की (फिनीकी का ही एक रूप) के सयोग से इसके एक दूसरे रूप (रोम के जनपद म, पश्चिमी यूरोप में) रोमन लिपि का विकास हुआ, जिसमें आज सभी पश्चिमी भाषाएँ लिखी जा रही हैं और जिसके भारत मे देवनागरी के स्थान पर प्रयोग के लिये कुछ विद्वानों ने अनुचित समति दी है।

सुमेरी बाबुली का वह रूप 'अरमई' कहलाया जिसका प्रयोग अपनी विधि से ईरानी सम्राटों, दारा आदि ने किया। अरबी के अतिरिक्त फारसी लिपि ग्रीक आर्यों की अरमई मे लिखी गई। इसका एक रूप उस 'खरोष्ठी' में विकसित हुआ जिसका प्रयोग न केवल अशोक ने अपने शिलालेखों में पश्चिमोत्तर साम्राज्यभागों मे किया बल्कि जिसे उसके उत्तरवर्ती भारतीय ग्रीकों, पह्लवों और कुषाणों की भी प्रभूत सरक्षा मिली और जो सुमेरी बाबुली से निकली अन्य लिपियों की भाँति ही दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी। प्राचीन कीलाक्षरों की पद्धति से लिखते समय जो उसके अक्षरों की ऊपर चौड़ी और नीचे नुकीली आकृति हो जाया करती थी उससे इसका 'खर' अथवा 'ऊँट' के रूप का दूर का आभास हो जाना आश्चर्यजनक न था। वही आभास इसके नाम का कारण बना। भारत मे प्रयुक्त होनेवाली—सैंधव सभ्यता की चित्रलिपि के अतिरिक्त – मात्र दो लिपियों मे एक 'खरोष्ठी' थी जो असंदिग्ध रूप मे सुमेरी बाबुली से विकसित मानी जाती है और जिसका ईरानी में पूर्ववर्ती रूप वह था जो दारा के बेहिस्तून तथा नक्शएरुस्तम के अभिलेखों की 'अरमई' में प्रयुक्त हुआ था। उसी की सहायता से असूरी अथवा उसकी पूर्ववर्ती सुमेरी बाबुली लिपियाँ, रालिंसन आदि के उद्योग से, १६वीं सदी में पढ़ ली गई।

भारत की दूसरी मात्र लिपि 'ब्राह्मी' है जिससे, गुप्त काल की शंख 'लिपि की

छोड़ शेष, समस्त उत्तर दक्षिण में सदियों के कालप्रसार के बीच प्रयुक्त होनेवाली लिपियाँ निकली हैं और देवनागरी जिसकी कनिष्ठतम पुत्री है। यह ब्राह्मी लिपि और इससे निःसृत भारत की सभी लिपियाँ, अरमई आदि के विपरीत, ग्रीक रोमन की ही भाँति, बाएँ से दाएँ को लिखी जाती हैं। प्रश्न यह होता है कि ब्राह्मी – भारतीय लिपियों की आदिम भारतीय जननी—देशज है अथवा विदेशज? बाएँ से दाएँ लिखने की पद्धति लिपियों के विपरीत प्रजनन को प्रमाणित नहीं करती, यह उस ग्रीक दृष्टांत से सिद्ध है जिसने दाएँ से बाएँ लिखी जानेवाली इब्रानी फिनीकी वर्णमाला को लेकर उसे बाएँ से दाएँ लिखना शुरू कर दिया था। उस स्थिति को यदि हम दृष्टि में रखें तो ब्राह्मी के समुदय और विकास के संबंध में हमारा निर्णय सुगम हो जाय।

जैसा बूह्लर ने बताया है, इसमें संदेह नहीं कि ब्राह्मी के अनेक अक्षर सुमेरी बाबुली अथवा 'अरमई' से मिलते हैं। मात्र इस एकरूपता के संयोग से निःसंदेह एक लिपि का दूसरी से प्रादुर्भाव तो सर्वथा नहीं माना जा सकता—यद्यपि उसका प्रभाव माना जा सकता है—पर इस पृष्ठभूमि के साथ इस संबंध की अन्य परिस्थितियों का अध्ययन किया जा सकता है जिसके संदर्भ का निष्कर्ष, कुछ अजब नहीं, ब्राह्मी को सुमेरी बाबुली के प्रधान तने से निकली प्रशाखा प्रमाणित कर दे।

लिपि विकसित होती है मूल से अथवा मूललिपि से निकली उसकी शाखाओं प्रशाखाओं से सीखी जाती है। ब्राह्मी बाहर से सीखी गई अथवा इस देश में ही विकसित हुई, इसपर विचार करने के लिये उसके प्रयोग के इतिहास का निर्देश अनिवार्य हो जाता है। इस देश में ब्राह्मी के उपयोग के जाने हुए सबसे पहले प्रमाणों से कम से कम हजार वर्ष पहले सिंधुसभ्यता में एक चित्रलिपि प्रचलित थी जो उस सभ्यता के साथ ही मिट गई। यदि वह सर्वथा मिट न गई होती तो विकास के उसके कोई न कोई रूप मिस्रानी चित्रलिपि से निःसृत 'हिरेटिक' अथवा सुमेरी बाबुली से निःसृत विचारात्मक (इडियोग्रैफिक) आदि विकासोन्मुख रूपों के दर्शन उसमें निश्चय होते जिनकी अंतिम कड़ी के रूप में ही किसी देशज भारतीय लिपि का उदय विकासक्रम से संभव था। ईसा पूर्व सातवीं-छठी सदी के पूर्व प्रयुक्त होनेवाले इन सैंधवी लिपिरूपों का तो सर्वथा अभाव है ही, ब्राह्मी के किसी आदिम रूप का भी ७वीं सदी ई० पू० से पहले इस देश में प्रचलित होने का प्रमाण नहीं मिलता। और लिपि किसी भी स्थिति में एकाएक किसी मेधा द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि वह देशज है तो उसके विकास के प्रमाणों का अस्तित्व होगा ही। बुद्ध से पहले, ईसा पूर्व छठी सदी से पहले, वस्तुतः ब्राह्मी के उपयोग का प्रमाण उपलब्ध नहीं। स्वयं बुद्ध की मृत्यु पर उसके अस्थिवाही पात्रों पर दो चार शब्दों में ही लिखी इबारत उपलब्ध हुई है। इससे प्रकट है कि लिपि का इस देश में साधारण प्रयोग अभी न हुआ था और उस साधारण प्रयोग के आधार कारण अशोक के वे शिलालेख थे

जिनका आरंभ न केवल दारा के अभिलेखों के अनुरूप अशोक करता है बल्कि उन्हीं की तरह बड़े बड़े अभिलेखों का भी वह श्रीगणेश करता है, जैसे उन स्तंभों के निर्माण का भी जो प्रकृत रूप से सिंधु पजाब पर्यंत साम्राज्य के अधिकारी ईरानी सम्राटों और उनसे पहले असूरी सम्राटों, उनसे भी पहले बाबुली सम्राटों (हम्मुराबी का विशद् विधान स्तंभ पर ही २०वीं सदी ई० पू० में खुदा) और उससे भी पहले मिस्री फराऊनों ने खड़े किए थे। उत्तर पश्चिम के उन जनपदों में अशोक द्वारा अरमई लिपि खरोष्ठी का उपयोग भी उस सपर्क और मूलाधार की ओर प्रभूत सकेत करता है।

अब यदि ब्राह्मी लिपि की ईसवी पूर्व छठी सदी के पहले की विकासमंजिलें नहीं मिलतीं और उस सदी मे वह लिपि एकाएक इस देश मे उपयुक्त होने लग जाती है तो क्या इससे यह निष्कर्ष युक्तिसगत न होगा कि ब्राह्मी इस देश में जनमी नहीं, उस काल विदेशों से सीखी गई थी जब हम बहुत कुछ विदेशों से सीख रहे थे? तब न केवल असुरों का प्रताप मानव सभ्य जगत् पर तप रहा था बल्कि उनके मंदिर और महल अन्य राष्ट्रों के वास्तु स्थापत्य के प्रमाण बन रहे थे, वह परपरा भी बन रही थी जब मय जैसे असुरों ने इस देश मे, न केवल युधिष्ठिर के राजप्रासाद को बल्कि समूची वास्तुशैली को प्रभावित किया। आश्चर्य का स्थान नहीं होना चाहिए वस्तुतः यदि हमे नागर शैली के मंदिरों के विमान का भारतेतर रूप मात्र असूरियों के मंदिरों के भग्नावशेषों में मिले। यह वही काल था जब असुरों की शक्ति का प्रभाव 'अष्टाध्यायी' के सूत्र तक मे उनकी ओर सकेत करते हुए वैयाकरण पाणिनि ने माना और 'असुर' शब्द की व्युत्पत्ति 'असवः इति प्राणा.' द्वारा सचलित हुई। सुमेरी बाबुली 'बाल' शब्द का प्रयोग इब्रानी, अरबी, फारसी के माध्यम से, अथवा उसके भी बहुत पूर्व 'सबसे ऊपर वाला' के अर्थ में सस्कृत में चाहे जब भी आ गया हो, इसमें संदेह नहीं कि वात्स्यायन द्वारा पहले पहल सौंदर्य और रसशास्त्र में इस अर्थ मे 'कला' शब्द का प्रयोग असूरी ईरानी भारतीय सपर्क के इसी काल में हुआ जब असुरों के प्रधान नगर तथा परकोटेवाली राजधानी (जिससे अरबी फारसी 'क़िला' या हिंदी 'किला' शब्द निकला और जिसका निर्माण ईसा पूर्व १३६५ में ही हो गया था) 'कला' के भग्नावशेष स्वय असूरियों ने खोदकर समसामयिक जगत्‌को प्रदर्शित कर दिए। क्या समव नहीं कि तभी ब्राह्मी का उदय भी इस देश में अन्यत्र से सीखकर ग्रीक आदि की ही पद्धति में उसकी लिखावट दाहिने से बाएँ की जगह बाएँ से दाएँ कर उसका उपयोग देश में किया गया हो?

इस प्रकार हमने लिपि की सार्वभौम सत्ता देखी, उसके साम्राज्य के दिग्वर्ती छोर देखे। धर्म के अनेक आदोलनों के आरंभ की भाँति ही लिपि की उद्‌गम-भूमि भी एशिया ही थी, यद्यपि उसके वृक्ष की एक कलम अफ्रीकी मिस्र में भी लगी और बढ़कर फैली।

•

बलभद्र मिश्र का नवोपलब्ध ग्रंथ रसविलास

भगीरथ मिश्र

बलभद्र नाम के कई कवि मिलते हैं। इन सबमें प्रसिद्ध आचार्य केशवदास के बड़े भाई बलभद्र मिश्र हैं। अन्यों का तो केवल नाम या साधारण परिचय ही उपलब्ध है। केशवदास की कविप्रिया के विवरणानुसार ओड़छा के राजा मधुकरशाह द्वारा समानित पडित काशीनाथ के बड़े पुत्र बलभद्र मिश्र थे। इनसे छोटे थे केशवदास और कल्यानदास। बलभद्र मिश्र सनाढ्य ब्राह्मण तथा बड़े बुद्धिशाली थे। मधुकरशाह इनसे पुराण सुना करते थे।[1] यह पुराण सुनाने की वृत्ति इनके पितामह कृष्णदत्त को राजा रुद्रसाह ने दी थी और इन्हें परपरा से प्राप्त हुई थी। इनके पितामह और पिता दोनों ही संस्कृत के विद्वान् पडित तथा व्याकरण और कर्मकांड के विशेषज्ञ थे।[2] कविवर बलभद्र ने भी अपने पडितवंश की परपरा के अनुरूप ही भागवतभाष्य, हनुमन्नाटक की टीका, गोवर्द्धनसतसई की टीका, बलभद्री व्याकरण आदि ग्रथ रचे। हिंदी साहित्य के अतर्गत उनकी ख्याति इन ग्रथों से नहीं, वरन् उनके नखशिख नामक ग्रथ से है जिसकी परपरा में यद्यपि अनेक नखशिख और अंगदर्पण आदि ग्रथ लिखे गए, परतु बलभद्र के ग्रथ की विलक्षणता सर्वमान्य रही। 'दूषणविचार' नामक एक और ग्रथ का उल्लेख उनके नाम से मिलता है। केशवदास और बलभद्र दोनो ही में यह मौलिकता है कि इन्होंने किसी ग्रथ के आधार पर नहीं लिखा, जैसा कि परवर्ती रीतिकालीन आचार्यों ने किया है। इन्होंने नवीनता लाने का प्रयत्न किया है।

यहाँ पर जिस ग्रंथ की चर्चा हम कर रहे हैं, वह है 'रसविलास'। इनके रचे ग्रथों की सूची में किसी इतिहासकार ने अभीतक इस ग्रथ का उल्लेख नहीं किया है, परतु इसकी शैली, कवित्व और विवेचन से ऐसा जान पड़ता है कि यह इन्हीं बलभद्र मिश्र का रचा ग्रथ है। 'रसविलास' प्रधानतया भाववर्णन का ग्रंथ है, परतु लेखक ने इसे महाकाव्य की सज्ञा प्रदान की है। प्रत्येक प्रकरण के अत मे 'इति श्री रस-

१. कविप्रिया २, छंद १४, १६।

२. रामचंद्रिका।

विलास महाकाव्य···' पद का कथन है जो उपर्युक्त धारणा की पुष्टि करता है। यहाँ पर बलभद्र की महाकाव्यसंबधी धारणा प्रचलित धारणा से भिन्न जान पड़ती है। संभवतः वे विविध भावों का वर्णन करनेवाले ग्रंथ को ही महाकाव्य कहना चाहते हैं, जैसा कि 'रसविलास' स्वय है। परतु यह धारणा मान्य नहीं है।

रसविलास के मंगलाचरण मे विष्णु, गणेश और सरस्वती की वंदना की गई है। उसके बाद ग्रंथरचना का प्रस्ताव इस प्रकार है —

> संचारी थाई ललित, सात्विक भाव विभाव।
> बरनौं बिबिध बिलास रस, दे सरसुती पसाव ॥ ५ ॥

साथ ही अपने ग्रथ की प्रशसा में बलभद्र जी का कथन है —

> पूषन भूषन दिवस को, निसि भूषन ससि जानि।
> भूषन रसिक सभानि को, रसबिलास कबि मानि ॥ ६ ॥

'रसविलास' मे भावों के वर्णन, सख्या और क्रम आदि मे नवीनता दीखती है। जिस प्रकार केशवदास की कविप्रिया और रसिकप्रिया की वर्णनपरिपाटी, परवर्ती काव्यशास्त्र के हिंदी ग्रंथों में नहीं अपनाई गई, उसी प्रकार 'रसविलास' की परिपाटी भी आगे के आचार्यों ने दूसरे ढग से ग्रहण की। इसमें बत्तीस संचारी, आठ सात्विक बीस ललित और नौ स्थायी भावों का वर्णन है। इसके पश्चात् विभाव का वर्णन फिर विलक्षणता और नवीनता लिए हुए है। इनके ललित भावों के अंतर्गत कुछ हावों और दो सचारी भावों का उल्लेख किया गया है। सचारी भावों के नाम ये हैं— निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिंता, मोह, धृत, स्मृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, अवबोध, अमर्ष, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, त्रास, वितर्क, अवहित्था। यह क्रम भानुदत्त की रसतरंगिणी तथा रुद्रभट्ट के शृंगारतिलक से मिलता है, केवल सख्या में अंतर है।

सचारी भावों की सख्या ३२ ही रखी गई है। ३३वाँ सचारी ईर्ष्या इस सूची में नहीं है। ईर्ष्या और छल को इन्होंने अपनी नवीन भावकोटि 'ललित भाव' के अंतर्गत रखा है। इस सबंध में बलभद्र जी की मान्यताएँ विलक्षण हैं। उनका कथन है —

> अष्टभाव सात्विक कहे, संचारी बत्तीस।
> अब कबि कहै बखानि कै, ललित भाव हैं बीस ॥ ५७ ॥

संचारी बत्तीस कहकर ३३वें ईर्ष्या सचारी को न रखने का कोई कारण इन्होंने नहीं दिया। सात्विक भावों का वर्णन मान्य पद्धति पर ही है, परंतु बीस ललित भाव जैसे

कवि की कल्पना से जान पड़ते हैं। बीस ललित भावों के नाम ये हैं — उपालंभ, स्वयदूतत्व, प्रतिभेद, अभिसंधिता, विभ्रम, उद्वेग, ईर्ष्या, खेद, लीला, किलकिंचित, परिताप, हेला, बिब्बोक, चाट, कुट्टमित, मोट्टाइत, व्याज, प्रलाप, विकार, छल। इनमे दो संचारियों के भीतर रखे जा सकते हैं, आठ हावों के भीतर आ जाते हैं, परतु शेष कवि के द्वारा जोड़े हुए जान पड़ते हैं। कवि ने इसी कारण से इन्हें हाव न कहकर सब को 'ललित भाव' की संज्ञा दी है। ये सात्विक भावों के समान स्वय-प्रेरित और अनायास नहीं, वरन् सायास होने के कारण संभवतः इस रूप में रखे गए हैं, फिर भी इस वर्ग को मान्य और समीचीन नहीं कहा जा सकता है।

इसके बाद स्थायी भावों का वर्णन भी परंपरागत रूप में है। इन्होंने जुगुप्सा को निंदा नाम दिया है, परतु लक्षण वैसे ही हैं। केवल नाम की नवीनता है।

विभावों के वर्णन मे फिर विलक्षणता के दर्शन होते हैं। इस प्रसंग के भीतर बलभद्र जी ने प्रतिभाव, सुभाव, काकु, व्यग्य, अन्योक्ति, संभव, विभाव, कलहातरित, जुगुति, अनय, अभाव, सुसंधित आदि का वर्णन किया है। इस प्रसग के अंतर्गत अनुभाव, मान, उद्दीपन विभाव आदि के वर्णन भी आ गए हैं। अन्योक्ति भाव का लक्षण —

बात कहै मिस और के, मन में औरै कानि।
दोऊ भाव लगैं भले, सो अन्योकति जानि ॥ ६७ ॥

उदाहरण —

जलही ते उपजै जलज बलिभद्र कहि
जलही ते जीवत बसन बासी जल के।
जल सो लियै न भीजै नेकहू जल के रस,
काहू के न बस जेते जीव जल थल के।
कोमल अमल अति सुंदर सुगध बासु
पूषन सों प्रीति है सुभाय ऐसे पल के।
जिनके कमलनैन नाम कहियतु आली
तिनमें सकल गुन जानियो कमल के ॥ ७४ ॥

रसों का अलग विवेचन रसविलास में नहीं है। कुल ग्रथ ५ विलासों में समाप्त है। वैज्ञानिकता एव मान्य शास्त्रीय परपरा की दृष्टि से रसविलास महत्वपूर्ण एव प्रतिष्ठित ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। परंतु इसके वर्गीकरण आदि को देखकर कवि की स्वच्छंद मौलिकता का आभास मिलता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस परपरा को लेकर आगे रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथ नहीं लिखे गए।

रसविलास कवित्व की दृष्टि से उत्कृष्ट है। उदाहरण के छंद लेखक की कवित्वप्रतिमा के पुष्ट प्रमाण समुपस्थित करनेवाले हैं। इनके ग्रंथ नखशिख में जहाँ अप्रस्तुतयोजना की आलंकारिक एवं कल्पनापूर्ण छटा देखने को मिलती है, वहाँ रसविलास मे सुंदर एव ललित भावपूर्ण छद हैं। यह बात कवि के द्वारा प्रस्तुत कुछ उदाहरणों से स्पष्ट है। दैन्यभाव का उदाहरण —

फिर चितवनि में फिरायो मन फिरकी लौं,
चितु चकडोरी कीनों मृदु मुसकाय कैं।
छोरि डारयो लाज सों लपेट्यो हुतो बलिभद्र,
भौंरा लौं भ्रमायो जीव-बाँसुरी बजाय कैं।
हौं तो भई दीन बनसी है लै लै मीन जैसे,
कीनो डगडोल लोल लोचन डुलाय कैं।
गुन को गरब गयो जोबन को जोर नयो,
रूप को गुमान हयो ढोटा नंदराय कैं॥ ८॥

रसविलास की भाषा चलती हुई टकसाली एव प्रवाहयुक्त ब्रजभाषा है जिसमें इनकी अप्रस्तुत योजना भाव को सहज रीति से उद्घाटित करती है। छंदों की गति भी सहज आकर्षण से युक्त है। यहाँ चुने हुए कुछ उदाहरणों में ही नहीं, वरन् सर्वत्र ही। मोह का उदाहरण द्रष्टव्य है —

नैननि ओप बढ़ी बलिभद्र, मनो बिरवा जल सींचत रोयौ।
अंतर प्रीति को दीप दिपै, जग बात झरोखनि झाँकि सु जोयौ।
त्यौं प्रगटी उर मे हित की द्युति ज्यों गुन लाल फटीक मों पोयौ।
भेद रह्यो न मिल्यौ मन मों मनु यो मनमोहन सों मनु मोयौ॥१०॥

यहाँ पर 'बात' शब्द श्लिष्ट है और इसका सुदर प्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि बलभद्र का रसविलास काव्य की दृष्टि से सुंदर ग्रथ है। इसका रचनाकाल ग्रंथ मे उल्लिखित नहीं है, परंतु यह संवत् १६४० के आसपास होना चाहिए, क्योंकि इसके पश्चात् केशव के ग्रथों, कविप्रिया और रसिकप्रिया, का रचनाकाल आता है जिनका इस ग्रथ पर कोई प्रभाव नहीं है।

*

श्रीवल्लभाचार्य की राधा

गोवर्धननाथ शुक्ल

•

महाप्रभु वल्लभाचार्य से पूर्व राधा की चर्चा अनेक पुराणों मे होती हुई अनेक सांप्रादायिक आचार्यों से स्पृष्ट हुई है, यहाँ उसके विस्तार की आवश्यकता नहीं। भक्त्याचार्यों मे महाप्रभु वल्लभ एवं महाप्रभु चैतन्य सबसे परवर्ती हैं। अतः इन दो महानुभावों को राधाविषयक साहित्य की संपूर्ण निधि विरासत मे मिली थी। अतः राधा के व्यक्तित्व के विकास में इन दोनो आचार्यों ने अपने सपूर्ण भावयोग का विनियोग कर दिया है। उसी का परिणाम था कि अष्टछाप के सभी कवियों ने राधा की खूब चर्चा की है। विशेषकर श्रीमद्भागवत के दशम स्कध की अनुक्रमणिका सुननेवाले वल्लभ के दोनो शिष्य सूर और परमानददास ने तो अपने विरह और मिलन गीतों मे राधा को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो रूपों में रखा है।

यह तो सर्वविदित ही है कि श्रीमद्भागवत पुष्टिमार्ग के प्रमाणचतुष्टय के अतर्गत है और उसका प्राणभूत ग्रथ है। संप्रदाय मे इसकी मान्यता सप्रदाय के परमाराध्य श्रीनाथजी के तुल्य ही है। आचार्य के प्रसिद्ध ग्रथ 'तत्वदीप निबध' के श्रीमद्भागवतार्थ प्रकरण मे स्पष्ट कहा—

इतीदं द्वादश स्कध पुराणं हरिरेव सः।
पुरुषं द्वादशत्वं हि सक्थौ बाहू शिरोन्तरम् ॥
हस्तौ पादौ स्तनौ चैव पूर्वं पाणी करौ ततः।
सक्थौहस्तस्ततश्चैको द्वादशश्चापरः स्मृतः।
उत्क्षिप्त हस्त' पुरुषो भक्तमाकारयत्युत ॥

तात्पर्य यह कि सप्रदाय के आराध्य श्रीनाथजी एव उनकी वाङ्मयी मूर्ति श्रीमद्भागवत मे कोई तात्विक अतर नहीं, इसी लिये संप्रदाय के प्रत्येक अनुरागी को नित्य भागवतपाठ का आदेश है। घरु वार्ता में आया है कि भागवत के नित्य पाठ के कारण गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी को नित्यकर्म एव भोजनादि में विलब हो जाता था। अतः आचार्य ने भागवत के सारूप 'पुरुषोत्तमसहस्रनाम' की रचना कर दी जिससे कि थोड़े ही समय में श्रीमद्भागवत का समग्र पाठ हो जाय। दूसरे शब्दों में यदि यों कहें कि 'पुरुषोत्तमसहस्रनाम' श्रीमद्भागवत के स्कंधों की क्रमिक सूची है तो

अत्युक्ति न होगी। पुरुषोत्तमसहस्रनाम में संपूर्ण भागवत का लीलाक्रम है। अतः परं दशमस्कधीय नामानि के ८१वें श्लोक में आया है—

कृष्ण भाव व्याप्त विश्वगोपी भावित वेष धृक्।
राधा विशेष सभोग प्राप्त दोष निवारकः॥ पु० स०

ध्यान देने की बात है कि दशम स्कध का यह वही स्थल है जहाँ श्रीमद्भागवत में राधा शब्द के संकेत पाने की बात विद्वानों ने कही है। यहाँ तक कि अग्रेज विद्वान् जे० एन० फर्कुहर ने लिखा है—

'वी हैव सीन इन द भागवत पुराण, देअर इज ए गोपी हूम कृष्ण फेवर्स सो मच ऐज टु वाडर विथ हर एलोन, ऐंड दैट दि रेस्ट आव् दि गोपीज सर्माइज दैट शी मस्ट हैव वर्शिप्ड कृष्ण विथ पिक्यूलियर डिवोशन इन ए प्रिवियस लाइफ टु हैव वन् हिज स्पेशल फेवर। दिस सीम्स टु बी द सोर्स हेंस राधा कम्स फ्राम द रूट इन द सेंस आव् कसिलिएटिंग, प्लीजिंग। शी इज दस प्लीज़िंग वन (राधृ)। इन व्हाट बुक शी फर्स्ट अपियर्स इज़ नाट येट नोन।''[1]

भागवतकार यों संकेत देते है—

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविंद. प्रीतो यामनयद् रहः।।
भा० द० स्क० अ० ३०, श्लोक २८।

वस्तुतः पुरुषोत्तमसहस्रनाम अक्षरशः श्रीमद्भागवत का साराश है। अतः उसमे राधा का स्पष्ट उल्लेख करके 'राधातत्व' का बीजरूप परिचय आचार्य ने दिया है। 'पुरुषोत्तमसहस्रनाम' के उक्त श्लोक की व्याख्या ही राधा का पुष्टि साप्रदायिक स्वरूप है। इस श्लोक की व्याख्या मे आने से पूर्व और राधा के साप्रदायिक स्वरूप को सुस्पष्ट करने से पूर्व यहाँ मैं उन सभी स्थानों की एकत्र चर्चा कर आना चाहता हूँ जहाँ जहाँ आचार्य ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राधा की चर्चा की है। आचार्य के दो ग्रथ ऐसे हैं जहाँ राधा की अप्रत्यक्ष चर्चा आई है। वह सब सकारण है उसके विस्तार के लिये यहाँ स्थान नहीं। पहला ग्रथ है परिवृढाष्टक और दूसरा मधुराष्टक।

परिवृढाष्टक में आया है—

१. ऐन आउटलाइन आव दी रिलीजस लिटरेचर आव इंडिया, पृ० २३०।

कलिंदोद्भूतायास्तटमनुचरंती पशुपजाम् ।
रहस्येकां दृष्ट्वा नवसुभग वक्षोज युगलाम् ॥
हठं नीवीग्रंथि श्लथयति मृगाक्ष्या हठतरं ।
रतिः प्रादुर्भावो भवतु सतत श्री परिवृढे ॥

यह 'पशुपजा' कोई अन्य नहीं श्रीमती राधा ही हैं। वही गोपकुमारी हैं। इसी एकांतमिलन की ओर संकेत करते हुए सूर ने लिखा—'बूझत स्याम कौन तू गोरी !' 'सूर का राधाविषयक प्रेमाऽध्याय' इसी पद से प्रारंभ होता है। यही पशुपजा अन्य समस्त गोपतरुणियों के प्रेम की पराकाष्ठा है और सब इसी पशुपजा के इर्द गिर्द घूमती इसी की भावसाधना में तल्लीन हैं। आचार्य लिखते हैं—

पराकाष्ठा प्रेम्णां पशुप तरुणीनां क्षितिभुजाम् ।

परिवृढ०—श्लोक ४

इसी 'पशुपजा' को रास में प्रमुख स्थान देकर हरि क्रीड़ा करते हैं—

हरिर्यस्तस्मिन् क्रीगण परिवृतोनृत्यति सदा ।
रतिः प्रादुर्भावो भवतु सततं श्री परिवृढे ॥

यही पशुपजा कभी आवेशमय क्षणों में कृष्ण बन जाती है—

वरांगे शृंगारं दधति शिखिना पिच्छ पटलैः ।
रतिः प्रादुर्भावो भवतु सततं श्री परिवृढे ॥

जिसकी हास्यसुधा से प्रेरित होकर कृष्ण भक्तों के दुरत दुःखाब्धि को सुखा लेते हैं और जिसके नयनकमल आनंद देनेवाले हैं और अंगहीन अनंग कामदेव सांगत्व को प्राप्त होता है, वह गोपी कोई अन्य नहीं श्रीमती राधा ही हैं —

दुरंतं दुःखाब्धि हसित सुधया शोषयति यो ।
यदास्येंदुः गोपीनयननलिनानंदकरणम् ॥
अनंगः सांगत्व व्रजति मम तस्मिन् मुररियौ ।
रतिः प्रादुर्भावो भवतु सततं श्री परिवृढे ॥

स्पष्ट है कि इस परिवृढाष्टक की रचना का मूलहेतु आचार्य ने कृष्ण में राधाभाववाले आदर्श की प्राप्ति बतलाया है। कृष्णभक्ति के लिये मानव मन के अनंत भाव माध्यम हो सकते हैं पर आचार्य को एक मात्र राधाभाव ही अभीष्ट है। शृंगार का स्थायी भाव 'रति' है। यह रति काम की पत्नी है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पुरुष का स्थायी भाव नारी है। आचार्य ने परिवृढाष्टक की फलश्रुति में कहा है—

रति प्रेम्णुः शश्वत् कुवलयदल श्यामलतनौ ।
रतिः प्रादुर्भूता भवति न चिरादस्य सुदृढा ॥

शाश्वत रति की वृद्धि और पुष्टि रतिपति प्रद्युम्न के पिता कृष्ण से ही माँगी गई है, उनसे अधिक कौन अधिकारी हो सकता है। वरिवृद शब्द 'वृह', 'वृहि', 'वृहौ' धातु से बना है जिसका अर्थ वृद्धि भी होता है और अधिप भी।

अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढो धियः।

—अमर० तृ० काड, सा० व०, श्लोक ११।

अतः श्री कृष्ण में रतिवृद्धि ही परिवृढाष्टक का लक्ष्य है।

आचार्य का दूसरा ग्रंथ है मधुराष्टक। इसमे भी राधा की अप्रत्यक्ष चर्चा आई है। कृष्ण के अग प्रत्यंग की माधुरी को लेकर एक एक गोपी ने चर्चा की है। उसी प्रसग मे एक एक गोपी ने एक विशिष्ट गोपी की चर्चा की है—

गोपी मधुरा लीला मधुरा

—मधुराष्टक, श्लोक ७।

यहाँ इसको गुप्त अथवा अप्रत्यक्ष क्यों रखा गया है, इसका कारण बताते हुए श्री हरिराय जी ने स्पष्ट किया है—

एतदेवास्मदाचार्यैः रतिगुप्तं निरूपितम्।
तद्भाव भावनं सिध्येदेतत् ग्रंथार्थ भावनम्॥

अर्थात् यह अत्यंत गुप्त बात हमारे आचार्य ने बताई है। इसकी भावना करने से 'भाव' की सिद्धि होती है।

उपर्युक्त दो ग्रथों मे राधा की अस्पष्ट चर्चा करके आचार्य ने राधा की स्पष्ट चर्चा निम्नाकित ग्रथों मे जिस प्रकार की है, उसमें राधा को श्रीकृष्ण के विरह में व्याकुल दिखलाकर उनका एकात स्वगत जल्पन दिया है—

एकदा कृष्ण विरहात् ध्यायन्ती प्रिय संगमम्।
मनो वाष्प निरासार्थं जल्पंतीदं मुहुर्मुहुः॥

इस जल्पना में सौंदर्य और प्रेम की जिस दिव्य भूमि के दर्शन होते हैं वह पाठक को एक अतींद्रिय लोक मे लेजाकर अनिर्वचनीय सुख मे स्थिर कर देती है। प्रकृति के निरीह सौंदर्य का पल्ला पकड़ कर यहाँ सौंदर्य और प्रेम की भावना द्विगुणित आभामय हो गई है। इस ग्रथ मे लिखा है—

आभीरनागरीप्राणनायकः कामेश्वरः।[१]

१. श्रीकृष्णप्रेमामृतम्, श्लोक २१।

वही कृष्ण राधा को प्रकृति के इस दिव्य प्रांगण में अपनी नित्यसहचरी बनाते हैं।

राधावरुंधनरतः कदंबवनमंदिरः।[3]

राधा का सौहार्द ही कृष्ण को रसात्मा बनाए हुए है, वे उसके नेत्रतारक हैं—

व्रजयोषित्सदा हृद्यो गोपीलोचनतारकः।[4]

पुष्टिमार्ग में राधा स्वकीया, रसेश्वरी एवं सर्वेश्वरी हैं। स्वकीया का उद्दाम शृंगार इसलिये पावनतम है कि वह एकनिष्ठ है। रसात्मा श्रीकृष्ण की इन सभी शृंगारिक क्रीड़ाओं में एकवचन प्रयुक्त हुआ है—

गोपिका कुचकस्तूरी पंकिलः कोकिलालसः।
अलक्षित कुटीरस्थो राधा सर्वस्व संपुटः॥[5]

राधा आभीरकन्या हैं, व्रजनागरी हैं, अन्यपूर्वा होकर अनन्यपूर्वा भी हैं। वल्लभी हैं। उनमें रत्यात्मक भाव की पूर्णता है। कृष्ण उनके वदनकमल के मधुपायी हैं—

वल्लवी वदनांभोज मधुपान मधुव्रतः।

वही मधुव्रत श्रीकृष्ण गोपसीमंतिनी श्रीराधिका के भाव की सदैव अपेक्षा किया करते हैं—

गोपसीमंतिनी शश्वद् भावापेक्षापरायणः॥

प्राणवल्लभा राधा रासलीला की उनकी अनिवार्य और नित्यसहचरी हैं और रासेश्वरी हैं—

प्रत्यंग रभसावेष प्रमदा प्राणवल्लभः।
रासोल्लासमदोन्मत्तो राधिकारतिलंपटः॥[6]

श्रीकृष्णप्रेमामृत के उपरांत 'श्रीकृष्णाष्टक' नामक एक और ग्रंथ आता है। इस ग्रंथ में भी आचार्य ने राधा की पर्याप्त चर्चा की है और राधा को स्वकीया रूप में प्रतिष्ठित कर भगवान् की आह्लादिनी शक्ति के रूप में स्मरण किया है। यह ग्रंथ आचार्य की भक्तिभावना का द्योतक है। इसमें उन्होंने दास्यभाव की कामना की है, यथा—

३. वही, २४।
४. वही, २५।
५. श्रीकृष्णप्रेमामृतम्, श्लोक १६।
६. वही।

श्री गोप गोकुल विवर्द्धन, नंदसूनो
राधापते व्रज जनार्ति हरावतार।
मित्रात्मजा तट विहारण दीनबंधो।
दामोदराच्युत विभो मम देहि दास्यम्॥

आगे वे कहते हैं—

श्री राधिकारमण मानस गोकुलेंद्र।
सूनो यदूत्तम रमार्चित पादपद्म॥

तात्पर्य यह कि श्रीराधिका उनकी नित्यशक्ति हैं और रमा अथवा लक्ष्मी की अवतारस्वरूपा हैं। इस 'श्रीकृष्णाष्टक' ग्रंथ मे आचार्य की अवतारभावना का पूर्ण रूपेण अवतरण हुआ है।

प्रसिद्ध ग्रंथ 'श्रीमद्भागवत दशमस्कंधानुक्रमणिका' में उन्होंने आठों पटरानियों के नाम दिए हैं किंतु वहाँ राधा का नाम नहीं है। यह द्वारकालीला के अंतर्गत होने के कारण है और ये विवाह दशमस्कंध के उत्तरार्ध मे हैं। आचार्य ने दशमस्कंधीय लीलाओं को अवस्था एवं स्थान के आधार पर त्रिधा विभाजन किया है। अवस्था के अनुसार बाललीला, प्रौढलीला, एवं राजलीला (राजसूयादि यज्ञ) नाम दिए हैं—स्थान के अनुसार गोकुल अथवा व्रज लीला, कंसवधात्मक मथुरालीला तत्पश्चात् राज या द्वारका लीला। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ त्रिविध लीलानामावली मे आचार्य ने रासलीला में तिरोहित होते हुए एवं राधा का सहचरत्व करते हुए कृष्ण को इस प्रकार स्मरण किया है—

कायिक तिरोभावित गोपीपुंजाय नमः।
राधासहचराय नमः॥[७]

इस लीला को प्रौढ़ावस्था की बोधक होने से ही प्रौढ़ लीला के अंतर्गत रखा गया है। इससे अधिक और क्या स्पष्ट संकेत आचार्य दे सकते थे। इन लीलाओं की फलश्रुतियों मे कहते हैं—

बाल लीला नाम पाठात् श्रीकृष्णे प्रेम जायते।
आसक्तिः प्रौढ़ लीलायां नाम्नां पाठात् भविष्यति॥
व्यसनं कृष्णचरणे राजलीला विधानतः॥[८]

७, त्रिविधलीलानामावली प्रौढ़ लीला, ४७–४८।
८. वही, श्लोक १–२।

इस प्रकार प्रेम, आसक्ति और व्यसन इन तीनों लीलाओं के मनन चिंतन से होते हैं।

आचार्य के उपर्युक्त ग्रंथों में राधा की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष चर्चा दिखाने की चेष्टा की गई है। अब प्रश्न यह है कि राधा के द्वारा जिस रत्यात्मक भाव की पुष्टि होती है उसका स्वरूप क्या है। स्पष्ट रूप से राधा की चर्चा नारी के रूप में हुई है, परंतु भावात्मक क्षेत्र में वल्लभ ने 'चरमभाव' अथवा 'बीजभाव' को ही 'राधाभाव' पुकारा है। वास्तव मे रत्यात्मक स्थायी भाव ही 'राधाभाव' है और वह कृष्ण के ही द्विधा रूपों में एक है। 'गायत्रीभाष्यम्' मे आचार्य ने लिखा है—**आत्मानं द्वेधा पातयत पतिश्च पत्नी च भवतामिति।** आत्मारूप कृष्ण ने रमण की इच्छा से ही अपने को द्विधा विभाजित किया। **सर्वज्ञान स्वरूपे हि ब्रह्म पूर्वं रिरंसया।** अतः इस रमण की इच्छा में भावपोषण ही उनका (श्री कृष्ण का) एकमात्र उद्देश्य है। इसी गायत्रीभाष्य में कहा गया है—

ब्रह्मानंदात्समुद्धृत्य भजनानंद योजने।—गायत्रीभाष्यम्

ब्रह्मानंद से हटाकर इस भजनानंद के योजन में ही रसात्मकता है। रस ही रासलीला का तात्पर्य है। दूसरे अर्थ मे रासलीला का प्रयोजन भजनानंद की प्राप्ति है। आचार्य ने रास की व्याख्या करते हुए लिखा है—

रास एव सर्वेन्द्रियास्वाद्य साक्षात् स्वरूप संबंध. मनोरथान्त रूपः।

रासलीला भक्तिमार्गीय सन्यास की दात्री है। रासलीला में समिलित होनेवाली गोपिकाएँ स्पष्ट कहती हैं—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वं विषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजस्मान्।
देवो यथाऽऽदि पुरुषो भजते मुमुक्षून्॥

भाग० १०।२९।३१

'राधाभाव' एक मात्र भक्तिमार्गीय सन्यास है। इस संन्यास से 'चरम भाव' का पोषण होता है। कार्यकारण के मूल में 'भाव' की सत्ता सभी मानते हैं। भाव 'भू' धातु का घञ् प्रत्यात्मक रूप है जो सत्ता और व्याप्ति दोनो अर्थों में व्यवहृत होता है। यह भाव ही कार्य (तत्व) और कारण (सत्व) इन दोनों से परे परत्व का मूल बीज है। इन तत्वों की चर्चा तत्रों में भी है। भगवान् ने अपने को त्रितत्वस्वरूप कहा है—'मैं कारण भी हूँ, कार्य भी हूँ और उनसे परे भी हूँ।' अपनी आद्याशक्ति राधा को भी उन्होंने त्रितत्वस्वरूपिणी माना है—**त्रितत्वरूपिणी सापि राधिका मम वल्लभा।**

अतः राधा कारणरूप, कार्यरूप और इससे परे परात्परूप होकर भगवत्शक्ति के रूप में सर्वत्र हैं। प्रकृतेः परा इवाहं सापि मच्छक्तिरूपिणी।

भूतल पर वे सदैव मनुजाकृति में कृष्ण के साथ अवतीर्ण होती हैं और इस प्रकार कार्य-कारण-रूप में भगवल्लीला का मंतव्य पूरा होता है। भगवान् कृष्ण ने बलराम से कहा भी है कि त्वया सार्द्धं तया सार्द्धं, नाशाय देवताद्रुहाम्। अर्थात् हे बलराम! तुम्हारे साथ, उसके (राधा के) साथ देवद्रोहियों के विनाशार्थ उत्पन्न होता हूँ। इसी लिये वल्लभमत में राधा स्वकीया हैं। शुद्ध अद्वैत के प्रतिपादक वल्लभ जब किसी अन्य की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करते तब परकीयत्व कैसा! फिर स्वकीया भाव की पुष्ट अवस्था को ही 'रस' की संज्ञा आचार्यों ने दी है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह इनके लिये रसाभास है अथवा कुछ और।

इसी लिये वल्लभ के अनुयायी अष्टछापियों ने राधा को स्वकीया मानकर ही चित्रित किया है। चित्रण मे सूर आदि महात्माओं ने सयोगवर्णन में तो स्वकीयत्व के चित्र दिए हैं पर वियोग में जो चेष्टाएँ चित्रित की हैं वे परकीया जैसी लगती हैं। सयोग के अनेक वर्णनों के उपरांत राधा का मार्मिक रूप सूर आदि वल्लभ-सप्रदायियों ने भ्रमरगीत में किया है। इनमें सर्वाधिक मार्मिकता सूर के वर्णन में हैं। 'अति मलीन बृषभानकुमारी' में जिस लालच की चर्चा की गई है वैसे 'लालच' का वर्णन अथवा चित्रण अन्य किसी भी कवि ने नहीं किया है। ऐसा मनोवैज्ञानिक तथ्य अधे सूर को ही सूझ सका था। प्रेम में मतवाले लोग जानते हैं कि प्रिय की वस्तुएँ, उसके वस्त्र, उसकी वस्तुगत गध प्रिय की स्मृति को ताजा रखने रखाने में कितनी समर्थ और शक्तिशालिनी होती है। फिर जीवन को दाँव पर हारनेवाली राधा कृष्णरमण मे सदैव नतमुखी रहती है। ऊपर सिर उठाकर नहीं देखती। इससे अधिक विषण्ण मुद्रा का चित्रण अन्यत्र कहाँ मिल सकेगा। राधा के इस विरहचित्रण मे सप्रदाय की विरहभावना घुली हुई है। पुष्टिमार्गीय भक्त कवियों ने मिलन से अधिक विरह के गीत इसी लिये गाए हैं कि विरह में मन का 'निरोध' बड़ी जल्दी होता है। निरोधतत्व ही संप्रदाय की प्रेमलक्षणा भक्ति का एक मात्र लक्ष्य है।

आचार्य जब जीव का ससारसबंध छुड़ाकर ब्रह्मसंबंध कराते हैं तो उस गद्यात्मक मंत्र का पहला वाक्य ही यह है कि अनंत वर्षों से यह जीव भगवान् से बिछुड़ा हुआ है, उसे बिछुड़ने का ताप है। साधारण प्रवाही जीवों को भगवान् से पृथक् होने का लेशमात्र दुःख नहीं है, जिस पृथकता में दुःख नहीं उसे विरह नहीं पुकारा जाता। जिस पार्थक्य मे ताप अथवा क्लेश है उसे ही विरह कहते हैं, इसी ताप की याचना पुष्टिमार्गीय भक्ति का प्रथम लक्षण है और राधा हैं उस ताप को सहन करनेवाली मूर्द्धन्य कृष्णप्रिया। भ्रमरगीत की गोपिकाएँ हृदयस्थ ईश्वर

को इसी लिये नहीं स्वीकारतीं। उसे स्वीकार करने में तो उनका ताप उसी क्षण समाप्त हो जायगा।

अब बहुत ही संक्षेप मे यहाँ यह भी विचार कर लेना है कि चैतन्यसंप्रदाय में राधा परकीया भाव में क्यों स्वीकृत की गई हैं। श्री वल्लभ एव श्री चैतन्य दोनो ही समसामयिक हैं और दोनो ही महाप्रभु हैं। दोनो ही आचार्य हैं और दोनो ही उच्च कोटि की माधुर्यभक्तिनिष्ठा के प्रवर्तक हैं, फिर एक ही राधा के एकनिष्ठ व्यक्तित्व को दो रूपों में क्यों ग्रहण किया गया है। इसका सक्षिप्त उत्तर तो इतना ही है कि प्रेमातिशय विधान के लिये श्री चैतन्य ने ऐसा किया। परतु तथ्य तो यह है कि दोनो के भक्तिदर्शन मे अतर है। और अपने अपने भक्तिसिद्धांतों की स्थापना मे उनका अपना पृथक् मौलिक दृष्टिकोण है। श्री वल्लभ 'राधाभाव' की प्राप्ति भगवदनुग्रह से मानते हैं। तद्भावभावित होने पर तत्क्षण 'तदीयत्व' प्राप्त हो जाता है, उसे परकीयत्व नहीं पुकारा जा सकता। श्री चैतन्य जगज्जाल में फँसे तापत्रय से ग्रस्त जीव का उद्धार भगवन्नाम से मानते हैं अतः व्यावहारिक प्रपचग्रस्तता मे भी अपने प्रभु से अपना उत्कट प्रेमसबंध उसी भाँति रखा जा सकता है जिस भाँति सपूर्ण गृहकार्य करते हुए भी कोई अन्यासक्ता जार में अपने हृदयस्थ भाव को लगाए रहती है। गुजराती भक्त नरसी इसी भाव को यों कहते हैं—

> खातॉं पीतॉं हरतॉं फरतॉं करतॉं घरनू काम।
> स्वामिनारायण स्वामिनारायण मुख रटिए हरिनाम॥

इस प्रकार परकीया भाव की साधना जगत् से नाता तुड़वाने में बड़ी सरल और सुगम है। दूसरे परकीया भाव मे विरह की स्थिति आजीवन बनी रहती है और बनी रह सकती है। महाप्रभु चैतन्य 'विरहभाव' के एकमात्र मूर्तिमान् प्रतीक हैं। श्री वल्लभ के नित्यजीवन मे जिस संतोष और शात साधना के दर्शन होते हैं, महाप्रभु चैतन्य के जीवन मे वही उत्कट विरहताप और अन्यमनस्कता बन जाती है। अतः दोनो ही महाप्रभुओं ने 'राधाभाव' में उपर्युक्त अपने अपने आत्मभावों का आरोप करके राधा के व्यक्तित्व को देखा है।

निष्कर्ष इतना ही है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य ने राधा की पर्याप्त चर्चा की है और उन्हें कृष्ण की स्वकीया स्वामिनी माना है। भावक्षेत्र में वे 'रत्यात्मक स्थायी भाव' के रूप में हैं जिसका निष्पन्न रस रसेश्वर भगवान् श्री कृष्ण ही हैं।

*

प्राचीन भारत में 'तुला' और 'मान'

बलराम श्रीवास्तव

भारत के पुरातत्व और साहित्य में तुला और मान के कतिपय प्रमाण मिलते हैं। यहाँ उन्हीं प्रमाणों के आधार पर प्राचीन तुला और मान पद्धति पर कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा है। यद्यपि भारतीय साहित्य में 'तुला' और 'मान' के अगणित उद्धरण हैं यथा महाभारत, अमरकोश, नारदस्मृति तथा कुछ धर्मशास्त्र और पुराणों में, किंतु यहाँ केवल उन्हीं प्रसगों का उपयोग किया गया है जो तुला और मान की प्राचीनता या स्वरूप ज्ञान के लिये उपादेय हैं। कालक्रम की दृष्टि से निबंध गुप्त पूर्व साहित्य और पुरातत्व तक ही सीमित है।

आर्थिक दृष्टि से सिंधुघाटी की सभ्यता व्यापारिक सभ्यता थी जिसका व्यापारिक संबंध तत्कालीन विश्व के प्रायः सभी प्रागैतिहासिक केंद्रों से था। 'तुला' और 'मान' महत्वपूर्ण व्यापारिक उपकरण के रूप में, प्रागैतिहासिक सिंधु में ई० पू० तीन सहस्राब्दी पूर्व से ही प्रचलित थे। मैके ने ठीक ही लिखा है कि 'तुला' और 'मान' का उपयोग सिंधुघाटी सभ्यता के आर्थिक जीवन में इतना प्रचलित था कि मिट्टी के खिलौनों के रूप में 'तुला और मान' का उपयोग सिंधुघाटी के बच्चे करते थे।[1] प्राचीन तुला के जो भी उदाहरण सिंधुघाटी से मिले हैं, उनसे यही समझा जा सकता है कि तुला का सामान्य उपयोग कीमती वस्तुओं के क्रयविक्रय में होता था। पलड़े प्रायः दो होते थे, जिनमें तीन छेद बनाकर आज ही की तरह डोरियाँ निकालकर डंडी से बाँध दिए जाते थे। पुरातत्वज्ञों ने प्राप्त पलड़ों में से एक में डोरी बाँधे जाने का प्रमाण पाया है।[2] जिस डंडी में पलड़े झुलाए जाते थे, वह प्रायः काँसे की होती थी तथा कभी कभी पलड़े ताँबे के भी बनाए जाते थे। मैके का अनुमान है कि भारी वजन की वस्तुओं की तोल लकड़ी के बड़े पलड़ों पर होती थी।[3]

१. अर्नेस्ट मैके, अर्ली इंडस सिविलिजेशन, पृ० १०२।

२. ह्वीलर, इंडस सिविलिजेशन, पृ० ६१; अर्ली इंडस सिविलिजेशन, पृ० १०२।

३. वही, पृ० १०२।

साहित्य में तराजू के लिये 'तुला'[४] शब्द का प्रचलन था। ऋग्वेदीय संस्कृति में तुला के उपयोग का रूप ठीक ठीक नहीं समझा जा सकता। संभवतः ऋग्वेद की ऋचाओं में 'तुला' शब्द का प्रयोग नहीं है। किंतु वाजसनेयी संहिता में हिरण्यकार की तुला का निर्देश है।[५] शतपथ ब्राह्मण में 'तुला' के प्रसंग हैं।[६] शतपथ ब्राह्मण काल में 'तुला' की प्रामाणिकता पर लोगों का अटूट विश्वास था। इस काल से ही 'तुला' का उपयोग 'दिव्यप्रमाण' के रूप में होने लगा। वशिष्ठ धर्मसूत्र से पता चलता है कि उस समय तक भारत के पारिवारिक जीवन में तुला की घर घर प्रतिष्ठा थी तथा तुला गृहस्थी का उपयोगी उपकरण हो गया था।[७] आपस्तंब धर्मसूत्र के अनुसार डाँड़ी मारना एक प्रकार का सामाजिक अपराध था। 'कूटतुला' का प्रयोग करके अनुचित लाभ कमानेवाले के यहाँ श्राद्धकर्म में भाग लेना पाप समझा जाता था।[८] भगवान् बुद्ध की भी यही धारणा थी। दीघनिकाय के लक्खणसुत्त में बुद्ध ने मिथ्याजीवों की गणना में डाँड़ी मारना भी बताया है।[९] नागसेन ने 'मिलिंदप्रश्न' में राजा मिनांडर को बताया है कि 'कूटतुला' का दान वर्जित है।[१०] कौटिल्य कूटतुला के बढ़ते हुए प्रयोग से विशेष सशंक थे। उन्होंने राज्य को प्रत्येक चौथे महीने व्यापारियों की तुलाओं का परीक्षण करने का निर्देश दिया है।[११] मनु का भी ऐसा ही आदेश है। किंतु उन्होंने परीक्षण की अवधि छः मास निर्धारित की है।[१२] याज्ञवल्क्य का कथन है कि 'तुला' और 'मान' में जो 'कूट' करे उसे उत्तम साहस का दंड देना चाहिए।[१३] प्राचीन भारत के उत्तम साहस का अर्थ आधुनिक प्राणदंड लेना चाहिए।

४. मोनियर विलियम्स, संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, पृ० ७३६; राइस डेविड्स, पाली इंगलिश डिक्शनरी, पृ० १३६।

५. वाजसनेयी संहिता, ३०, १७।

६. शतपथ ब्राह्मण, ११, २, ७, ३३।

७. वशिष्ठ धर्मसूत्र, ११, २३।

८. आपस्तंब धर्मसूत्र, २, ६, १६।

९. दीघनिकाय (पाली टेक्स्ट सोसायटी) खंड १, पृ० ५।

१०. मिलिंदपन्ह (सैक्रेड बुक्स आव् द ईस्ट) खंड २, पृ० १२१।

११. चातुर्मासिकं प्रातिवेधनिकं कारयेत्, अर्थशास्त्र, २, १६, ५१।

१२ तुलामानं प्रतिमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम्।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत्, मनुस्मृति, ८, ४०३।

१३. तुलाशासनमानानां कूटकृन्नाणकस्य च।
एभिश्च व्यवहर्ता यः स दाप्यो दममुत्तमम्॥ याज्ञवल्क्य, २, २४०।

कौटिल्य के पूर्व की तुलाओं का प्रकार ज्ञात नहीं हो पाता। कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में सोलह प्रकार की तुलाओं का उल्लेख किया है। इन षोडश तुला-प्रकारों में दस प्रकार की तुलाएँ ऐसी थीं, जिनका उपयोग साधारण भार की वस्तुओं के तौलने में होता था। इन सभी तुलाओं में आज ही की तरह दो पलड़े होते थे। इन तुलाओं में सबसे छोटी तुला ६ अंगुल तथा एक पल वजन की होती थी। तदुपरांत अन्य ९ प्रकार की तुलाओं की डंडियों की लंबाई क्रमशः ८ अंगुल और वजन एक एक पल बढ़ता जाता था। इन दस प्रकार की तुलाओं की लंबाई और वजन इस प्रकार होते थे[१४]—

तुलाप्रकार	तुला की लंबाई (अंगुल में)	तुला का भार (पल मे)
१.	६	१
२.	१४	२
३.	२२	३
४.	३०	४
५.	३८	५
६	४६	६
७	५४	७
८	६२	८
९	७०	९
१०.	७८	१०

(१ पल = ८० रत्ती)

भारी वजन को तौलने के लिये कौटिल्य ने ६ प्रकार की तुलाओं का वर्णन किया है। इनमें प्रथम प्रकार की तुला को 'समावृत्त तुला' कहते थे। समावृत्त तुला में ५ पल वजन का केवल एक ही पलड़ा होता था। 'समावृत्त तुला' की डंडी की लंबाई ७२ अंगुल होती थी तथा इसका कुल वजन ५३ पल होता था। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि ऊपर जिन दस प्रकार की हल्की तुलाओं का वर्णन किया गया है, उनमें दसवें प्रकार की तुला की लंबाई ७८ अंगुल और वजन केवल १० पल ही है। इसकी तुलना मे समावृत्त तुला की लंबाई ७२ अंगुल और वजन ५३ पल है। स्पष्ट ही यह तुला बहुत ही बड़े वजन की तुला है, जिसे स्थायी रूप से गाड़कर या स्थिर करके ही प्रयोग में लाया जा सकता था। समावृत्त तुला का विवरण

१४. अर्थशास्त्र, २, १७, १२।

अर्थशास्त्र में इस प्रकार है—पंच त्रिंशत्पल लोहां द्विसप्त्यंगुलायामां समवृत्तां कारयेत्। तस्याः पञ्चपलिकं मण्डलं बद्ध्वा समकरणं कारयेत्। ततः कर्षोत्तरं पलं पलोत्तरं दशपलं द्वादशपञ्चदश विंशतिरिति पदानि कारयेत्। तत आशताद्दशोत्तरं कारयेत्। अक्षेषु नान्दीपिनद्धं कारयेत्॥[15]

ऐसा प्रतीत होता है कि समावृत्त तुला एक खमे के आधार पर समकोण बनाती हुई (समकर्ण) बँधी होती होगी। खमे पर जहाँ तुला की डडी बँधी होती होगी, वहीं एक 'मडल' बाँध दिया जाता रहा होगा। इस मडल का जो अंश डंडी और खंमे के बीच पड़ता होगा उस पर 'पल आदि' के विविध भारसूचक चिह्न लगा दिए जाते होंगे। 'अक्षेषु नान्दी पिनद्ध कारयेत्' का अर्थ स्पष्ट नहीं है। शायद किसी भार की सूचना के लिये 'स्वस्तिक' चिह्न लगाना ही इसका तात्पर्य है।

भारी तुलाओं की कोटि मे परिमाणीतुला[16] भी थी जिसका दंड ९६ अगुल और भार १०६ पल होता था। इसके दड या डाँड़ी पर २०, ५० और १०० पलों के भारसूचक चिह्न बने रहते थे। ऐसी अन्य तुलाएँ भी थीं जिनके आकार प्रकार की कोई सूचना अर्थशास्त्र में नहीं मिलती यद्यपि वे बड़ी ही उपयोगी थीं—व्यावहारिकी, भाजनी और अतःपुरभाजनी।[17] व्यावहारिकी सार्वजनिक तुला थी। भाजनी राजकर्मचारियों तथा अतःपुरभाजनी राजमहल के कर्मचारियों के उपयोग की तुलाएँ थीं। ये तीनो प्रकार की तुलाएँ प्रायः राजकाज के कामों मे ही आती थीं तथा इनके आकार प्रकार और उपयोग सार्वजनिक तुलाओं से भिन्न थे।

लकड़ी की आठ हाथ लबी तुला का भी वर्णन अर्थशास्त्र मे मिलता है।[18] यह काष्ठतुला मयूरपद पर स्थित की जाती थी। इस प्रकार की काष्ठतुलाओं को प्रतिमानवती कहा गया है, जो सभवतः यह निर्देश करता है कि इस प्रकार की तुला मे दो पलड़े होते थे, एक मे तौलने का भार और दूसरे में तौलने का 'बाट' या 'प्रतिमान' रखते थे।

'महानारदकस्सपजातक' से तौलने की प्रक्रिया पर भी थोड़ा प्रकाश पड़ता है।[19] इससे पता चलता है कि पहले 'भार' एक पलड़े पर रख दिया जाता था

१५. वही, २, १९, १४-१७।

१६. वही, २, १९, १८-१९।

१७. वही, २, १९, २६।

१८. काष्ठ तुला अष्टहस्ता पदवती प्रतिमानवती मयूरपदाधिष्ठिता। वही, २,१९,२८।

१९. जातक (फाउसबोल संस्करण) खंड ६, पृ० १९।

तदुपरांत एक एक करके क्रमशः हल्के से भारी वजन के बाट दूसरे पलड़े पर रखे जाते थे। बाट रखने की प्रक्रिया तबतक चलती थी जबतक भार और बाट के पलड़े समभार न हो जायँ। याज्ञवल्क्य स्मृति में तोलधर[20] का भी उल्लेख है। तोलधर में प्रायः एक सीधी रेखा खींची जाती थी जो तुला के दंड की सिधाई की परख में सहायक होती थी।[21]

प्राचीन मान और तुलामान शब्द बटखरों के बोधक हैं। भारतीय बटखरों का इतिहास भारतीय सिक्कों से भी पुराना है। सिंधुघाटी से बहुत से बटखरे प्राप्त हुए हैं। इन बटखरों का आकार और भारपद्धति कुछ विद्वानों के अनुसार मेसोपोटामिया और मिश्र से प्राप्त बटखरों से मिलती जुलती है।[22] किंतु इनके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय बटखरों की उत्पत्ति अभारतीय है।

प्रारंभ मे भारत के बने बटखरे चौकोर होते थे। कालांतर मे चौकोर के अतिरिक्त गोलाकार भी बनने लगे। ऐतिहासिक युगीन हस्तिनापुर, अहिच्छत्र कौशाबी और राजघाट (वाराणसी) मे जो खुदाइयाँ हुई हैं उनमे मिट्टी के गोलाकार बटखरे बहुत से मिले हैं। बटखरे प्रायः पत्थरों के ही बनते थे। विद्वानों का विचार है कि प्रागैतिहासिक बटखरों के लिये पत्थर राजपूताने से एकत्र करते थे।[23] कौटिल्य का मत है कि बटखरे लोहे के हों या मगध और मेकल देशीय पत्थरों से बनाए जायँ।[24] लोहे और पत्थर के अतिरिक्त बटखरों के बनाने के लिए अन्य भी किसी पदार्थ का उपयोग हो सकता है जो गर्मी या सर्दी पाकर बढ़ें या सिकुड़ें नहीं।[25] छोटे मानों के लिये रक्तिका, गुंजा या मजीठ का भी उपयोग होता था। इन प्राकृतिक पदार्थों को प्राचीन शास्त्रीय शब्दावली में 'तुलबीज' भी कहते थे।[26] इनका उपयोग, सोने, चाँदी और रासायनिक पदार्थों के तौलने में होता था।

प्राचीन भारत में तुला और मान की कई पद्धतियाँ प्रचलित थीं। प्रागैतिहासिक युग के बटखरों का आनुपातिक संबंध दहाई पद्धति पर था। इनका अनुपात (कुछ

२०. याज्ञवल्क्य, २, १००।
२१ वही, २, १००।
२२. न्युमिसमैटा ओरियंटला, पृ० ४।
२३ इंडस सिविलिज़ेशन, पृ० ६१।
२४. अर्थशास्त्र, २, १६, ११।
२५. वही, २, १६, ११।
२६. वही, २, १६, ११।

अपवादों को छोड़कर) १, २, ३, ४, ८, १६, ३२, ६४, १६०, ३२०, ६४०, १६००, ३२०० ६४००, ८००० और १२८००० का था।[२७] इन बाटों की सबसे छोटी प्रामाणिक इकाई ०. २५६५ ग्राम सिद्ध हुई है।[२८] इसी पद्धति का आंशिक प्रचलन कालांतर में भी हुआ, यद्यपि हड़प्पा के बटखरों का प्रचलन ऐतिहासिक युग में अभी प्रमाणित नहीं है।

वैदिक साहित्य में कृष्णल और शतमान की चर्चा है।[२९] कृष्णल निस्संदेह व्यावहारिक दृष्टि से बाट बटखरों की सबसे छोटी इकाई थी। किंतु मनु[३०] और याज्ञवल्क्य में कृष्णल से भी छोटी इकाइयों का वर्णन है। यथा—

८ त्रिसरेणु = १ लिक्षा
३ लिक्षा = १ राजसर्षप
४ राजसर्षप = १ गौरसर्षप
२ गौरसर्षप = १ यवमध्य
३ यवमध्य = १ कृष्णल

त्रिसरेणु और लिक्षा का भौतिक तथा व्यावहारिक उपयोग समझ में नहीं आता। ये काल्पनिक मान भी हो सकते हैं। राजसर्षप, गौरसर्षप, यव और कृष्णल आदि का उपयोग रसायनिक तथा मूल्यवान् खनिजों की तौलों में विशेष महत्व का था। कृष्णल के संबंध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि धातुओं के अंतर से यथा सोने और चाँदी के मूल्यभेद से कृष्णल के मान में भी अंतर होता था। इस प्रकार एक स्वर्णमाष ५ कृष्णल का होता था तथा एक रौप्यमाष केवल २ ही कृष्णल का। मनु और याज्ञवल्य ने कृष्णल से धाण तक का आनुपातिक संबंध इस प्रकार निर्णीत किया है—

५ कृष्णल = १ स्वर्णमाष
१६ माष = १ सुवर्ण
४ सुवर्ण = १ पल

मनु और याज्ञवल्क्य[३१] दोनों ही में सुवर्णमानों की यही पद्धति है। मनु की

२७. अर्ली इंडस सिविलिजेशन, पृ० १०३।
२८. वही, पृ० १०१।
२९. वैदिक इंडेक्स, खंड १, पृ० १८१; खंड २, पृ० ४०५, ४१३।
३०. मनु० ८, १३२–३३; याज्ञवल्क्य १, ३६२।
३१. मनु० ८, १३७; याज्ञवल्क्य १, ३६२।

तालिका के अनुसार १० पल का एक १ धरण होता था।[32] चाँदी के तौलने की पद्धति इस प्रकार थी—

२ कृष्णल = १ रौप्यमाष

१६ रौप्यमाष = १ धरण (याज्ञ०)[33]=१ पुराण (मनु)[34]

चाँदी की तौल मे याज्ञवल्क्य के अनुसार १० धरण का १ पल होता था — दशभिर्धरणैः पलमेव।[35] यह मनु के 'पलानि धरणं दश' से तुलनीय है।[36]

जैसे ४ सुवर्ण का १ पल होता था उसी प्रकार ४ कर्ष का भी १ पल माना गया है। मनु के हिसाब से १ कर्ष ८० रत्ती का होता था।[37] चरक ने कर्ष के आधार पर बाटों का विवरण इस प्रकार दिया है[38]—

४ कर्ष = १ पल

२ पल = १ प्रसृति (डा० वासुदेवशरण के हिसाब से
१ प्रसृति = ८ तोला)[39]

२ प्रसृति = १ कुडव

४ कुडव = १ प्रस्थ

४ प्रस्थ = १ आढक

४ आढक = १ द्रोण = १०२४ तोला १२⅘ सेर

चरक की मानपद्धति के अनुसार ४ कुडव का १ प्रस्थ होता था। अर्थशास्त्र मे भी ४ कुडव का १ प्रस्थ माना गया है। किंतु अर्थशास्त्र का कुडव चरक के कुडव से काफी हल्का है। अर्थात् चरक का कुडव २५६ तोले का और अर्थशास्त्र का कुडव केवल ५० तोले का है। यद्यपि इस अतर से अर्थशास्त्र के कुडव, प्रस्थ, आढक आदि के मान का आनुपातिक सबध चरक की तरह ही है, किंतु भार में बहुत अंतर हो जाता है। इस प्रकार चरक का द्रोण जहाँ १०२४

३२ मनु ८, १३५।

३३. याज्ञवल्क्य १, ३६४।

३४ मनु ८, १३६।

३५. याज्ञवल्क्य १, ३६५।

३६. मनु ८, १३५।

३७. वही, ८, १३६।

३८. चरकसंहिता, कल्पस्थान, १२, ३४; डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारत, पृ० २४४।

३९. वही, पृ० २४४।

तोले या १२ सेर ११ छटाक का है, अर्थशास्त्र का द्रोण ८०१ तोले अर्थात् केवल १० सेर का ही है।[४०]

कौटिल्य ने द्रोण से भी भारी बाटों का उल्लेख किया है[४१]—

१६ द्रोण = १ खारी = ४ मन
२० द्रोण = १ कुंभ = ५ मन
१० कुंभ = १ वह = ५० मन

जनपद और उपयोग भेद से कुछ अन्य प्रकार के बटखरों का परिचय हमें प्राचीन साहित्य में मिलता—जैसे कंस[४२], मथ,[४३] शाण[४४], निष्वाय[४५] आदि। हीरों की तौल के लिये सबसे छोटी इकाई तडुल और सबसे बड़ी इकाई धरण होती थी। इसे वज्रधारण भी कहते थे। २० तडुल का एक वज्रधारण होता था।[४६]

इन बाँटों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे प्रयत्नतः प्रामाणिक बनाए जाते थे। सिंधुघाटी से प्राप्त बटखरों की प्रामाणिकता बहुप्रशंसित है।[४७] तुला और मान की प्रामाणिकता पर राजा विशेष ध्यान देता था तथा अशुद्ध मान का व्यवहार अपराध था। अर्थशास्त्र के अनुसार पौतवाध्यक्ष और संस्थानिक बटखरों की प्रामाणिकता पर विशेष ध्यान देते थे।[४८] नंदों ने बाटों की पद्धतियाँ निर्धारित करने पर विशेष ध्यान दिया था।[४९] उन्हीं के समय से मागध और कलिंग मान की दो पृथक् मानपद्धतियाँ प्रचलित थीं। फिर भी व्यवहार मे तौल की प्रक्रिया में कुछ अशुद्धियाँ आ जाना संभव था। अतएव तौलते समय तुलामानांतर[५०] की दृष्टि से कुछ द्रव्य तौलने के बाद पृथक् रूप से अलग कर दिया जाता था। इसे 'हस्तपूरण' भी कहते थे।[५१]

*

४०. वही, पृ० २४४।
४१. अर्थशास्त्र, २, १६, ३७—३६।
४२ अष्टाध्यायी ५, १, २५; ६, २, १२८।
४३. वही, ६, २, १२२।
४४ अष्ट शाणा· शतमान वहन्ति, महाभारत, आरण्यक, १३४, १५।
४५. अष्टाध्यायी, ३, ३, २८।
४६. अर्थशास्त्र, २, १६, ८।
४७. इंडस सिविलिजेशन, पृ० ६१; अर्ली इंडस सिविलिजेशन, पृ० १०६।
४८. अर्थशास्त्र, २, १६, १।
४९ नंदोपक्रमाणिमानानि, काशिका, २, ४, २१; ६, २, १४।
५०. अर्थशास्त्र, २, १५, ११।
५१. वही, २, १५, ११।

'ढोलामारू रा दूहा' की अर्थसंबंधी कतिपय त्रुटियाँ

पतराम गौड़

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के मालवीय जन्मशती विशेषांक में डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'ढोलामारू रा दूहा के अर्थसंशोधन पर विचार' शीर्षक लेख लिखा है। वर्षों पूर्व जब 'बेलि' और 'ढोलामारू रा दूहा' प्रकाशित हुए थे तो उनमे कई अर्थगत असगतियाँ मेरे ध्यान में आई थीं। डा० गुप्त के उक्त लेख को पढ़कर वे फिर याद आ गई। डा० गुप्त ने व्यवस्थित चिंतन और मनन पूर्वक 'ढोलामारू रा दूहा' की टीका टिप्पणी पर विचार किया है। 'दूहा' के संपादक राजस्थानी भाषा और साहित्य के अग्रगण्य विद्वान् हैं और श्री भँवरलाल नाहटा ने संपादकों का कई स्थानों पर उचित ही समर्थन किया है। किंतु इन समिलित प्रयासों से भी 'दूहा' के अर्थ सुलझने की अपेक्षा अधिक उलझ गए हैं।

भाषाविज्ञान के आधार पर उचित अर्थों की गवेषणा डा० गुप्त ने की है जिसके फलस्वरूप दोहा २५७ के 'रिठि', दो० ४६४ के 'झाँखउ', दो० ४६३ के 'झँखइ', दो० ४६० के 'निवाँण' शब्दों पर उचित प्रकाश पड़ा है। 'दूहा' के सपादकों ने और श्री नाहटा ने 'रिठि' का अर्थ 'शीत' किया है, किंतु उचित व्युत्पत्ति के अभाव में यह अर्थ आनुमानिक सा ही लगता है। डा० गुप्त ने 'रिठि' की उत्पत्ति 'रिष्टि' से मानी है जिसका अर्थ है तलवार। 'कष्टप्रद तलवार (जैसी) झड़ीवाली वायु' बताकर सपादकों के 'शीत' अर्थ का डा० गुप्त ने वास्तव मे समर्थन ही किया है, विरोध नहीं। केवल अर्थसगति का आधार अधिक वैज्ञानिक बना दिया है। इसी प्रकार दोहा ४६३ और ४६४ के 'झँखइ', 'झाँखउ' शब्दों का आधार 'प्रा० झँख अर्थ सतप्त होना' बताना अधिक उपयुक्त लगता है। टीका टिप्पणी में संपादकों ने 'झाँखो पड़नो' का अर्थ 'झलक पड़ना' लिखा है जो मेरी दृष्टि में गलत है। 'झाँखो पड़नो' का अर्थ राजस्थानी भाषा में 'मद पड़ना' है। यथा, 'मामलो झाँखो पड़गो' अथवा 'बात झाँखी पड़गी' अथवा 'बात मद पड़ गई' अर्थ समझने हैं। 'झलक पड़ा' अर्थ तो न किसी से सुना है और न कहीं पढ़ा है। राजस्थानी मुहावरा 'झाँख मारै है' से तीव्र गध का बोध होता है 'रोटी के चाख लागगी', 'झाँख लागी' जैसे प्रयोग तीव्र ताप के अर्थ में भी आते हैं। अतः दूहे का उक्त प्रयोग सताप की तीव्रता के अधिक निकट है। तपा हुआ सोना अधिक

चमकता है। इसलिये मूल शब्द के शाब्दिक अर्थ को छोड़कर उसका लाक्षणिक अर्थ यदि 'चमकना' लिया जाय तो डा० गुप्त को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। संपादकों ने भी 'झलक' अर्थ बताकर वास्तव में चमक की ओर ही संकेत किया था, किंतु बात स्पष्ट नहीं थी। उसका आधार बताकर डा० गुप्त ने उसे अधिक स्पष्ट कर दिया। इसी प्रकार दोहा ४६० में सं० 'निपान' से 'निवांणि' शब्द की व्युत्पत्ति अधिक संगत लगती है। संपादकों ने 'निम्न' से 'निवांणि' की व्युत्पत्ति बतलाई जो उतनी उचित नहीं लगती। संस्कृत के 'निम्नगा' शब्द का राजस्थानी अपभ्रंश 'निमदा' (अर्थ नीचा) शब्द इस बात को गवाही देता है कि 'निवाँणि' का घर और कहीं है।

दूहा ४८० मे 'दंत जिसा दाडिम कुली' का अर्थ टीकाकारों ने 'दाँत दाडिम के दानों जैसे हैं' किया है जो ठीक है। उन्होंने 'कुली' की स० 'कलिका' (अर्थ कली) से व्युत्पत्ति बताई। वह ठीक नहीं है। राजस्थानी मे 'गुली' का अर्थ बीज होता है। कवि ने उसका शुद्ध रूप 'कुली' समझकर संभवतः बीज के अर्थ मे 'कुली' शब्द का प्रयोग किया है। राजस्थानी गुली शब्द संस्कृत गुलिका का रूपांतर है। 'श्रीपूर्व' ग्रंथ मे 'क्रम संकोच गुलिका तद्विकासैकमूलिका' में गुलिका शब्द गुटिका का पर्यायवाची लगता है। गुलिका या गुटिका शब्द पारदगुटिका के रूप मे रसशास्त्र में रूढ़ है और रसेंद्रदर्शनकारों ने पारद को बीज या भवबीज की संज्ञा दी है। अतः गुली का अर्थ बीज हुआ। डा० गुप्त ने कुली की व्युत्पत्ति स० 'कुलिक' शब्द से मानी है। उनकी मान्यता भी आदरणीय है। क्योंकि बीज के बिना कुल या वंश-परंपरा चल ही नहीं सकती। इसलिये यदि कवि ने कुल और बीज का अभेद मान कर बीज के अर्थ में 'कुली' की कल्पना की हो तो डा० गुप्त की अर्थकल्पना संगत मानी जा सकती है। किंतु विवेचन स० ४ मे डा० गुप्त ने दाडिम कुली का 'दाडिम के आकार प्रकार का' जो अर्थ किया है वह तो क्लिष्टकल्पना मात्र है।

डा० गुप्त ने इस प्रकार भाषाविज्ञान के सहारे अर्थ करने की जहाँ चेष्टा की है, वहाँ तो उनका प्रयास स्तुत्य है, किंतु उसी न्याय से जब वे राजस्थानी भाषा में आग्रह करते हैं तब उनका समर्थन दुष्कर है। डा० गुप्त राजस्थानी शब्दों के वातावरण और स्थानीय प्रयोगों से अपरिचित हैं। इसके विपरीत 'दूहा' के संपादकगण राजस्थानी शब्दों के वातावरण और स्थानीय प्रयोगों से अच्छी तरह परिचित हैं। उदाहरण के लिये दो० ४३५ के 'बचालइ' शब्द को लें। टीकाकारों ने इसे प्रा० 'विच्च' से व्युत्पन्न मानकर 'बिचालै' (बीच में) अर्थ किया है। राजस्थान में सर्वत्र 'बिचालै' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग होता है।

इस प्रचलित अर्थ और दोहे के प्रसंग के विपरीत डा० गुप्त ने 'बच' की व्युत्पत्ति सं० 'वच्' (कहना) से की है। उनका यह कथन असंगत है कि 'विच्च

से बच्च होने की संभावना भाषाशास्त्र के नियमों के अनुसार नहीं ज्ञात होती है।' 'विच्च' के स्थान पर 'बच्च' के प्रयोग के अनेक उदाहरण राजस्थानी भाषा और साहित्य से दिए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ ईंटों के पजावे के बीच की पकी हुई ईंटों को राजस्थानी में 'बच्चो' या 'बच्चे की ईंट' कहते हैं। इस सुप्रचलित प्रयोग का 'बच्च' शब्द निश्चय ही 'विच्च' का रूपांतरमात्र है। राजस्थानी साहित्य मे भी ऐसे प्रयोग बहुधा देखे जाते हैं। यथा, महाराज चतुरसिंह का यह दोहा—

'दिन आँध्यो थाक्या बलद, पियो न क्यारो एक।
बच माँ पाँणी फूटग्यो, हियाफूट झट देख ॥

यहाँ 'बीच' के स्थान पर 'बच' का प्रयोग कितना स्पष्ट है।

इसी प्रकार दो० २१२ के 'महिराण' शब्द को महार्णव से व्युत्पन्न न मानकर 'मही + राण < रण्ण < अरण्य' से मानना समीचीन नहीं है। अपने विवेचन स० २ में वे लिखते हैं, 'महार्णव से महिराण भाषाशास्त्र के किसी नियम के अनुसार नहीं बन सकता है, किन्हीं कोषकारों और विद्वानों ने भले ही ऐसा माना हो।' समझ में नहीं आता कि ऐसी कौनसी कानूनी अड़चन खड़ी हो गई जिससे 'महार्णव' से 'महिराँण' बन ही नहीं सकता। मुझे तो भाषाविज्ञान के नियमानुसार 'महार्णव' से 'महिराण' शब्द की व्युत्पत्ति स्वाभाविक लगती है। यथा अजमेर के आना सागर का नाम अर्णोराज पर पड़ा। अर्णोराज का 'अर्णो' शब्द 'अर्णव' का रूपांतर है न कि अरण्य का। 'अर्णो' से 'आना' शब्द तक पहुँचने मे मध्य की कड़ी अर्ण या आर्ण, अण्ण आदि की कल्पना करनी ही होगी। राजस्थानी में अ और इ की स्वरभक्ति बहुत देखी जाती है। इसलिये अर्ण या आर्ण (मध्यवर्ती कड़ी) का 'आरण' उच्चारण भी कभी रहा होगा। 'आचार्य' शब्द का 'आचारज' उच्चारण आज भी देखा जाता है। महा + आरण से 'महारण' शब्द बनकर वर्णव्यत्यय के नियम से 'महराण' शब्द बना होगा। इ या ई की स्वरभक्ति के कारण 'महिराण' या 'महीराण' शब्द बनता है। यह ठीक है कि 'अरण्य' से 'अरण' और 'अर्णव' से 'आण्णअ' अधिकतर देखा जाता है, पर विशेष विकृतियों को एकदम इनकार नहीं किया जा सकता। भाषा बोलनेवाले भाषाविज्ञान पढ़कर ही भाषा नहीं बोलते, वे यदृच्छा प्रयोग भी करते हैं। इसलिये महार्णव से 'महिराण' की व्युत्पत्ति मे डा० गुप्त को आपत्ति नहीं करनी चाहिए। वास्तव मे उन्हें आपत्ति यह करनी चाहिए थी कि 'महार्णव' से व्युत्पन्न 'महिराण' शब्द का टीकाकारों ने 'महारण्य' अर्थ कैसे कर दिया? यदि उनकी यह आपत्ति होती तो ठीक थी। क्योंकि टीकाकारों ने 'डहडहाना' वाचक 'डोडहीजइ महिराण' पाठ मानकर अरण्य अर्थ किया होगा। किंतु यहाँ 'डोहीजइ' — 'दोहीजइ' का समानार्थक शब्द है

जिसकी संगति 'महिरांण' का समुद्र अर्थ माने बिना ठीक नहीं बैठती। 'समँदरां तूठी गई', 'समँदरां मैं तूठी गई' – राजस्थानी का सुप्रसिद्ध मुहावरा है जिसका अर्थ 'अभिन्न हो गई', 'निहाल हो गई' होता है। यहाँ इसी अर्थ में अधिक संगति बैठती है। मारवणी ने मन को पक्षी और प्राण को पंख मानकर उड़ने की संभावना की जो कल्पना की है, उसकी खुशी के बाद ही इच्छाओं के सूखे अरण्य बने रहने की संभावना नहीं रहती; फिर 'साजन' से मिलने के बाद तो 'अरण्य' की कल्पना ही असंभव है। मिलने के बाद का स्वाभाविक क्रम भोग और अभेद है। 'द' का 'ड' प्रायः हो जाता है। यथा 'दल' से 'डार'; उदाहरण — हिरणाँ की डार; वृद्ध से बूढ़ा, धूसर से डूसर आदि।

दो० ३७१ मे 'हेलउ दे दे' का अर्थ जो संपादकों ने 'पुकार पुकार कर' किया है, वह ठीक है। डा० गुप्त ने 'अवहेला' के अर्थ मे 'हेला' शब्द मानकर जो अर्थ किया है वह असगत है। 'हेलउ' से 'हेला' शब्द भाषाशास्त्र के किसी भी नियम से नहीं बन सकता। 'हेलउ' से आधुनिक राजस्थानी का 'हेलो' शब्द बना है जिसका अर्थ 'आवाज देना' सभी राजस्थानी जानते हैं। 'हेलो मारणो', 'हेलो देणो' राजस्थानी के प्रचलित मुहावरे हैं। लोकगीत की इस कड़ी मे भी प्रयोग स्पष्ट है— 'हेलो दे र बुलाया, थे मोड़ा किस विध आया।' 'हेलो' शब्द पुलिंग है, 'हेला' स्त्रीलिंग है। यदि किसी प्रकार क्लिष्टकल्पना करके डा० गुप्त के अनुसार 'उपेक्षा' अथवा 'अनादर' अर्थ मान भी लें तो भी 'उपेक्षा देना' या 'अनादर देना' मुहावरा न तो हिंदी मे है और न राजस्थानी मे। सभी 'उपेक्षा करना', 'अनादर करना' का प्रयोग करते हैं। दूहे के 'हेलउ दे दे' की ओर डा० गुप्त ने ध्यान नहीं दिया। 'हेलउ दे दे' से वास्तव म महल के खटकते हुए सूनेपन की जोरदार व्यंजना की गई है। श्री नाहटा भी 'हेलो' के बहुवचन 'हेला' शब्द का व्यर्थ ही प्रयोग करते हैं। नाग की 'पुकार कर काटने की' उनकी कल्पना भी विचारणीय है। काटनेवाला महल है न कि नाग। इसलिये नाग के 'उपेक्षा' या 'क्रोध' से काटने का यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं उठता। महल की भयकरता दिखाने के लिये ही नाग की उपमा यहाँ दी गई है। नाग का काटना दिखाकर उस भयकरता का और भी प्रचंड रूप व्यक्त किया गया है। सर्प जब काटता है तो फूत्कार के कारण और भी भयकर लगता है। इसी फूत्कार की आवाज के लिये यहाँ 'हेलउ' शब्द प्रयुक्त हुआ है और साथ में ही महल की 'साँय साँय आवाज' भी व्यक्त हो रही है।

दोहा ४४६ में 'मत पाँतरजउ कोय' के 'पाँतरजउ' का अर्थ टीकाकारों ने धोखा खाना किया है। 'धोखा खाना', 'भूल होना' के अर्थ मे 'पाँतरना' क्रिया का प्रयोग राजस्थानी साहित्य में अन्यत्र भी देखा जाता है। यथा, दुरसा आढ़ा ने लिखा है —

सारी बात सुजांण, गुणसागर गाहक गुणां।
आयोड़ो अवसाण, पाँतरियो न प्रतापसी॥

डा० गुप्त ने उक्त 'पाँतरना' या 'पाँतरज' का मूल प्रा० 'पतिज्ज' मानकर प्रकृत अर्थ के विरुद्ध अस्वाभाविक कल्पना की है। यों तो 'हस्तबिस्त' अथवा 'चीजबिस्त' (वस्त) के 'बिस्त' शब्दों की उत्पत्ति क्रमशः 'व्यस्त' और 'वस्तु' से न मानकर डा० गुप्त किसी अन्य शब्द से भी मान सकते हैं। किंतु प्रसंगविरुद्ध कल्पना अनर्थकारी होती है, इसपर विचार आवश्यक है। श्री नाहटा ने भी 'पाँतरजउ' का मूल 'प्रतारणा' मानकर भूल की है। स्मरणीय है कि पाँतर + जउ से 'पाँतरजउ' शब्द बना है। आधुनिक राजस्थानी मे उसका रूप होगा 'पाँतरजो'। 'पाँतरज' मे डा० गुप्त 'जउ' के आधे भाग 'ज' को तोड़जोड़कर 'उ' का लोप कर देते हैं। राजस्थानी प्रकृति प्रत्यय का ध्यान रखते तो वे ऐसा न करते। 'पाँतरजउ' वास्तव मे संस्कृत के 'पंक्तिकरण' (पंक्ति - भेद करण के अर्थ में) से व्युत्पन्न हुआ है। पंक्तिभेद का अर्थ प्रवंचना होता है। इसलिये टीकाकारों ने ठीक अर्थ किया है।

दो० ३२ में 'बाबहिया तर पखिया' के 'तर' का टीकाकारों ने 'गहरे रंग का' अर्थ किया है और उसकी उत्पत्ति फा० 'तर' (अर्थ हरा) से बताई है जो ठीक है। श्री नाहटा की 'तरु' से 'तर' की कल्पना असंगत है। मेरी समझ में यह नहीं आया कि पपीहा के 'तर' पख मानने मे क्या आपत्ति है? जिस प्रकार डा० गुप्त शब्दों की प्रामाणिकता का आधार भाषाशास्त्र मानते हैं उसी प्रकार प्राचीन साहित्यकारों ने पक्षिशास्त्र, धातुशास्त्र आदि के आधार पर ही रंग आदि की कल्पना की थी। सभी जानते हैं कि काग का रंग काला होता है, किंतु पक्षिशास्त्रों में काक का रंग लाल माना गया है। लाल रंग के विशिष्ट जलकाक पूर्व में अब भी पाए जाते हैं। मैंने आंशिक रूप से श्वेत पंखवाले काक भी देखे हैं। वह विकृति है। इसी प्रकार सोने का सामान्य रंग पीला है। उसका विशुद्धिविकृत वर्ण सफेद माना गया है और नील-विकृति की भी कल्पना की गई है। किंतु उसके विशिष्ट वर्ण 'हरा पीला' और 'लाल पीला' माने गए हैं। इसी कारण ज्योतिष मे बुध का रंग प्रथम प्रकार का सुनहरा और बृहस्पति का रंग द्वितीय प्रकार का सुनहरा माना गया है। हरे और पीले का संयुक्त नाम पिंगल वर्ण भी है। इसी कारण अति प्राचीन काल में पक्षिशास्त्री चातक को ही पिंगल (पिप्रियं + गल=गदति) पक्षी मानते थे। उसका विशिष्ट वर्ण श्वेत माना गया है और सामान्य रंग पिंगल। मैंने स्वयं भी चातक पक्षी को देखा है। उसका रंग सफेदी लेता हुआ कुछ काला, पीला और हरा सा है। इसी रंगवैचित्र्य के कारण संभवतः उसका नाम 'चात्रक' पड़ा हो। परवर्तीकाल के पक्षिशास्त्री उलूक जाति की 'कोचरी' को 'पिंगला' मानते थे, जैसा कि उसके विशेषण 'रात्रिचारिणी' से ज्ञात होता है।

किंतु 'पिंगलायुगल' शब्द इस बात का द्योतक है कि पिंगला पक्षी दो प्रकार का माना जाता था। पिंगल के ब्राह्मण वर्ण और पिंगला के 'ब्रह्मपुत्रि' संबोधन से सुप्रसिद्ध याचक चातक का बोध होता है। पोतकी और पिंगला को कहीं पर भिन्न भिन्न पक्षी स्वीकार किया गया है और कहीं पर दोनों को एक माना गया है। वस्तुतः इन दोनो का समाहार चातक पक्षी में ही होता है। इसलिये चातक का 'तर' रंग स्वाभाविक है। हो सकता है कि किसी ने उसकी लाल विकृति का वर्णन भी कर दिया हो।

इन उदाहरणों के अतिरिक्त प्रस्तुत अर्थगवेषणा मे कुछ ऐसे भी उदाहरण सामने आए जिनमे तीनो पक्षों के विद्वान् भाषाविज्ञान की फेरबाजी में पड़कर अपने अपने अंदाज के टोरे लगाने लगे। उदाहरणार्थ दो० ४३० के 'करि कइरा ही पारणउ' का 'कइराँ' शब्द देखिए। टीकाकारों ने उसका अर्थ 'करील' ठीक बताया है, किंतु उसका संस्कृत तत्सम 'करीर' युक्तिसंगत नहीं है। डा० गुप्त जी ने भी (पा० स० म०) के आधार पर स० 'कदर' (अर्थ श्वेत खदिर) से 'कइर' को व्युत्पन्न मानकर कोशकार की भ्रांत धारणा का अनुचित अनुमोदन कर दिया। आयुर्वेद अथवा वनस्पतिशास्त्र मे करील का पर्यायवाची 'कदर' कहीं नहीं मिलता। वह वस्तुतः खदिर का अपभ्रंश मात्र है जिस (खदिर) से व्युत्पन्न खैर शब्द राजस्थानी मे भी प्रचलित है। 'कदर' अकाकिया वर्ग का वृक्ष, कैर कैपर्दी वर्ग का। कैर मे इतनी कोपलें होती हैं कि कोशकारों ने 'अंकुरमात्र' को 'करीर' का पर्यायवाची माना है। ऊँट कैर को चाव से खाता है, 'कदर' को नहीं। प्राचीन राजस्थानी कवियों को भी इस विषय मे कोई भ्रम नहीं था। यथा—

'बंधियो अकबर बैर, रसतगैर रोको रिपु।
कंदमूल फलकैर, पावै राण प्रतापसी॥

'कैरफल' कहकर कवि ने स्पष्ट रूप से कैर को 'करील' माना है न कि 'कदर'। 'कदर' के फल लगते ही नहीं, पातड़े लगते हैं जो कभी खाए नहीं जाते। इसके विपरीत मुझे आशा है कि करीलफल (टेंटी) का आचार डा० गुप्त ने भी अवश्य खाया होगा। इसी प्रकार (पा० स० म०) के आधार पर श्री नाहटा ने 'कइर' को प्रा० 'क्रकर' से व्युत्पन्न मानकर अनुचित मार्ग का अनुसरण किया है। क्योंकि यद्यपि वनस्पतिशास्त्र में कैर का पर्यायवाची प्रा० 'क्रकर' का संस्कृत रूप 'कृकर' मिलता है, तथापि 'कृकर' (अथवा कृकलास) शब्द से आधुनिक राजस्थानी में 'किरलो' और हिंदी में 'गिरगिट' शब्द बना है न कि 'कैर'। राजस्थानी का 'किरलो' शब्द यद्यपि जतुवाचक है पर मराठी और गुजराती में 'किरल' या 'किरम' शब्द कैर वृक्ष के पर्यायवाची पाए जाते हैं। इसलिये आधुनिक भाषाओं में 'कृकर'

से अथवा प्रा० कक्कर (आ० काँकड़ा) से कैर व्युत्पन्न नहीं माना जा सकता। हाँ, भावी मानव भाषाविज्ञान के आधार पर इस प्रकार की व्युत्पत्ति की संभावना करे तो करे। 'कइर' शब्द वस्तुतः 'कव्वीर' या 'कव्वीर' शब्द से बना है। हिंदी विश्वकोश में स्पष्ट लिखा है 'करवील' (हि० पु०) करील, करीर, कचड़ा।' करवील का दूसरा रूप करवीर होता है जिसका प्राकृत रूप 'कव्वीर' या 'कव्वीर' बनता है। करवीर आजकल 'कनेर' के वृक्ष को कहते हैं, किंतु प्राचीन काल में जब करील शब्द अज्ञात था 'कवीर' कैर को कहते थे। 'कवीर' शब्द भारोपीय भाषापरिवार का है और उसका प्राचीनतम संस्कृत रूप 'एकवीर' है। राजनिघंटुकार ने एकवीर का अर्थ 'श्वेत करवीर' किया है। इसी 'करवीर' का अपभ्रंश रूप 'कवीर' बना, हिंदी रूप 'कवर' बना, फारसी रूप 'केवीर' तथा 'कबार' बने, तुरुष्क में 'कवरिश' बना, अरबी और बंबई की आधुनिक बोलचाल मे 'कनर' बना, पंजाबी मे 'कवड़ा' और लैटिन मे 'कैपेरिस' शब्द बने। इसलिये सुनिश्चित है कि 'कवीर' से ही 'कइर' शब्द बना है।

दूसरा उदाहरण दो० १०५ का 'बागरवाल' शब्द है। टीकाकारों ने इसका अर्थ 'याचक' ठीक किया है। 'बागर' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'वागर' या 'वाग्वर' से भी ठीक है जिससे वस्तुतः 'बागड़' शब्द बना है, किंतु इस प्रसंग मे यह व्युत्पत्ति ठीक नहीं है। श्री नाहटा की आपत्ति निरर्थक है। इसी प्रकार डा० गुप्त की अर्थ-कल्पना भी चिंत्य है। क्योंकि 'ढाढी' के लिये 'बागरवाल' संबोधन इस प्रसंग मे निरर्थक प्रतीत होता है। इससे ढाढी की कोई विशेषता स्पष्ट नहीं होती। 'बागड़' वाले केवल ढाढी ही नहीं होते। राजस्थान मे सर्वत्र ढाढी पाए जाते है। वस्तुतः यहाँ संस्कृत 'वादन' से प्रस्तुत 'बागर' शब्द बना लगता है। बजाने के लिये गुजराती में 'वगाड़वु' शब्द आता है। 'बजे' के लिये 'वागा' या 'वाग्या' शब्द हैं। इसी के आधार पर बजनेवाली वस्तु को 'बागर' मानने मे कोई अनौचित्य नहीं लगता। 'वाल' भी निरर्थक नहीं रहता। इससे भी सुगम व्युत्पत्ति वाग् + अर है। 'अर' का अर्थ 'की', 'वाली' हुआ अर्थात् वीणा और उसके रूपभेद सारंगी, रावणी इस्तक आदि तन् वाद्यभेद। ढाढी वाद्ययंत्र बजाकर घर घर भीख माँगते हैं। इसलिये सभी जानते हैं कि 'बागरवाल' का अर्थ 'याचक' ठीक है।

तीसरा उदाहरण दो० १५१ का 'बीजुलियाँ जालउ मिल्याँ' है। 'जालउ मिल्याँ' का अर्थ 'जाल मिल रहे हैं' किया गया है। टीकाकारों का यह अर्थ ठीक नहीं हैं। डा० गुप्त ने 'उमिल्याँ ('उम्मिल' से व्युत्पन्न) की कल्पना करके और भी गहरे अंधकार मे कदम रखा। श्री नाहटा ने 'जालउ' को 'ज्वाला' के लिये प्रयुक्त मानकर घोर अंधानुकरण किया है। राजस्थानी में 'मिल्याँ' का अर्थ 'मिलने पर' होता है, न कि 'मिल रहे हैं'। यदि यह अर्थ कवि को इष्ट होता तो 'मिलै'

(मिलइ) शब्द का प्रयोग करता। वस्तुतः 'जालउ' शब्द यहाँ 'वारिजाल' (अर्थात् बादल) का संक्षिप्त रूप है। 'बादलजाल' शब्द राजस्थानी में खूब प्रचलित है। 'जालो कद खिंडैगो' (अर्थ घटाटोप कब हटेगा) भी प्रायः बोलचाल में आता है। इसलिये अर्थ स्पष्ट है। नायिका कहती है कि 'हे ढोला, बिजलियों का बादलों से मिलन होने पर मैं (तुम्हारा वियोग) सहन नहीं कर सकूँगी।' बिजलियों का बादल से मिलन वर्षा ऋतु के आगमन का सूचक है ही, पर इससे अपने प्रेमघन से बिजली की तरह कौंध कर मिलने की तड़प भी व्यंजित हुई है। इसी भाव का अनुबंध दोहे की दूसरी पंक्ति में स्पष्ट है।

चौथा उदाहरण दो० १२ का 'जिमजिम मन अमले किअइ, तार चढंती जाइ' है। टीकाकारों ने 'ज्यों ज्यों मन अधिकार जमाता' अर्थ प्रथम चरण का ठीक किया है। उनका दूसरे चरण का अर्थ गलत है। डा० गुप्त ने आपत्ति तो ठीक उठाई, पर उनका समाधान अनुमानप्रसूत लगता है। दोहे के तार (पु०) का लिंगपरिवर्तन करने के लिये डाक्टर साहब को 'तारकमाला' शब्द की सृष्टि करनी पड़ी, पर अर्थ शिथिल ही रहा। उधर गरीब कवि पर न्यूनपदत्व का दोष मढ़ दिया गया। श्री नाहटा इससे भी दूर की कौड़ी ढूँढ़कर लाए। उन्होंने 'अमले किअइ' का अर्थ 'अमल का नशा करने पर' करके टीकाकारों के रहे सहे सही अर्थ पर भी पानी फेर दिया। वास्तव में 'तार' शब्द स्वयं ही स्त्रीलिंग है। यह राजस्थानी भाषा का प्रचलित और प्रसिद्ध शब्द है। जिसका अर्थ होता है 'पुष्टि - तुष्टि-क्षुधानिवृत्ति।' 'प्रभाव' या 'ताप' अर्थ में इसका पुंलिंग प्रयोग भी देखा जाता है। संपादकों का ध्यान राजस्थानी शब्द की ओर नहीं गया। उन्होंने 'तार' को संस्कृत शब्द मानकर 'ऊँचा' अर्थ किया जिससे अर्थ को समझने में कोई सहायता नहीं मिली। राजस्थानी में 'तार' शब्द के प्रयोग के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। यथा, १–मेरै कनैं के तार करै है।' २–'तेरी तो तार लागगी ही थी।' ३–'गाय तार कर राखी है।' ४–'उदयवंत आज दुनियाण सह ऊपरा, सार रो तार लागो सबाँ हीं।' अंतिम कविता पंक्ति में 'तार' प्रभाव या ताप के अर्थ में पुंलिंग में प्रयुक्त हुआ है, शेष में पुष्टि अर्थ अत्यंत स्वाभाविक लगता है, 'ज्यों ज्यों मनोदय होता जाता है और (अंगों पर) पुष्टि चढ़ती जाती है, त्यों त्यों मारवणी के शरीर पर यौवन (की अवस्था) के चिह्न (प्रकट) होते जाते हैं।' मूल दोहा यह है —

'जिम जिम मन अमले किअइ, तार चढंती जाइ।
तिम तिम मारवणी तणइ, तन तरणापउ थाइ॥

कहना न होगा कि दूसरे चरण का पुष्टिपरक अर्थ यौवनागम के लिये आवश्यक शर्त है। क्योंकि अपुष्ट अवस्था में मनोदय होने पर भी यौवनावस्था का स्फुट अनुभव

नहीं होता। आयुर्वेद में भी यौवन के लिये रसायनकल्पना द्वारा पुष्टि को अनिवार्य माना गया है। पुष्टि का संबंध किसी पहलवान से या मोटी थलथलकाय से नहीं है। नारी की पुष्टि का अर्थ उसकी देहयष्टि की वक्र रेखाओं का उभार है जिनके वृत्त की कठोरता में लावण्य की कसमसाहट मुखर हो उठती है। इधर हृल्लेखाओं में कामबीज का वपन होता है, उधर तैंतीस कोटि देवताओं (अस्थियों) की खूँटीपर मेरुदंडजा कच्छपी वीणा (मिलाइए वेद की दैवी वीणा) के तार चढ़ने शुरू होते हैं ('तार चढती = वीणा, थाइ = जाइ')। फलतः यौवन की 'ऋतु' आती है जिसके साथ ही 'मार' (वीणावादक) का उदय होता है। इसलिये 'विंदु' का अपेक्षाधर्मी 'नाद' जाग उठता है, जिससे 'बालिका' मह (अर्थात् उत्सव) की इला (भूमि) बनकर 'महिला' बन जाती है। कामशास्त्र और तंत्रशास्त्र में वर्णित यौवन के विकास की इन निगूढ़ कड़ियों को समझे बिना ही प्रस्तुत दोहे का अर्थ करके अर्थकारों ने भारी अनर्थ किया है।

पाँचवाँ उदाहरण दो० ३६६ है जो इस प्रकार है —

> वीछुड़ताँ ई सज्जणां, राता किया रतन्न।
> वारां बिहुँ चिहुँ नाँखिया, आँसू मोतीअन्न॥

इस दोहे के तीसरे चरण 'वाराँ बिहुँ चिहुँ नाँखिया का जो अर्थ संपादकों ने 'दिन रात लगातार गिराए' किया है, वह युक्तियुक्त नहीं लगता। डा० गुप्त का 'बिहुँ', 'चिहुँ' शब्दों का 'दोनो' और 'चारो' अर्थ सही है। श्री नाहटा को डा० गुप्त का अर्थ पसद नहीं आया। क्योंकि 'दो दिन चारो ओर आँसुओं' का छिड़काव करके ही वह (मरवण) चुप हो गई। इसलिये विरहिणी के रुलाने मे कुछ मजा नहीं आया। इसके विपरीत 'झोलीनुमा डोल' से मालियों की तरह जोर जोर से 'कीलियो मायो' बोलती हुई मरवण ने अपनी आँख से जब 'दो चार वारे गिराए', तब जाकर कहीं श्री नाहटा को सतोष हुआ। भले भाई! 'वारे' ही गिराने लगे तो दस बीस तो गिराते! अच्छा होता यदि उक्त दोहे के अर्थ पर मनन करनेवाले विद्वान् दोहे का अन्वय ठीक करके अर्थ की सगति बैठाते। अन्वयदोष से ही तीनो अर्थ असगत हो गए। दोहे की दूसरी अर्द्धाली का अन्वय इस प्रकार है — 'बिहुँ चिहुँ वारों मोतीअन्न आँसू नाखियाँ'। 'आँसू नाँखिया' – क्रिया का कर्ता 'बिहुँ' है। अतः शब्दार्थ यह निकलता है — 'दोनो ने चारो ओर से मोती जैसे आँसू गिराए।' यहाँ दोनो से अभिप्राय मरवण की दोनो आँखों से है, क्योंकि 'आँसू नाँखने' का कार्य आँखें ही कर सकती हैं और रत्ती (रक्तिका) की तरह लाल भी आँखें ही की गई थीं। इस अति स्पष्ट बात को काव्य में स्पष्ट करने की आवश्यकता न समझकर कवि ने केवल 'बिहुँ' शब्द का प्रयोग किया, नेत्रवाची शब्द को जान बूझकर टाल

गया। आँखों में आँसुओं की उमड़ती बाढ़ के लिये राजस्थानी का 'चौसरिया' शब्द सुंदर एवं सबल अभिव्यंजक है। उसी अर्थ में यहाँ 'चिहुँ वारौं' [चारो द्वार से = चारो दिशाओं से 'ओसरने' (अपसरण) करनेवाले (चौसरिया)] शब्द आया है। दोनो ने चारो का सा काम किया या उससे भी प्रबल किया, यह व्यंजित करके दोनों आँखों की अश्रु - वर्षण - प्रस्रण - पटुता में चमत्कार उत्पन्न किया गया है। साथ में 'बिहुँ', 'चिहुँ' के द्वारा प्रकृति के विराट् दृश्य की संगतिकल्पना से कवि ने विरह को भव्य भावभूमि पर उतारने की चेष्टा भी की है। मरवण की 'बिहुँ' अर्थात् दोनो आँखें, 'बिहुँ' अर्थात् 'द्यावा पृथिवी' — दोनो के समान हैं (अन्यथा एक आँख या दो आँख से आँसू बरसाने का प्रश्न ही नहीं उठता)। इसलिये द्यावा पृथिवी के समान दोनो आँखों से [चौबायों से (चिहुँ = चउ) + वारौं (बयार-बायराँ, उदाहरण, वार-भख, बाल-भख)] चौसरिया—चारो ओर से ओसरनेवाली घनघटाएँ — बड़े वेग से उमड़ घुमड़ कर बरस पड़ीं। इन घटाओं के वेग के साथ ही पृथिवी के समुद्रों के मोती उठकर नभमंडल में पहुँच गए। उधर आकाश के वरुणमंडल का आलोडन करनेवाले तीतरपंखी (अ० साइरस) बादल भी नक्षत्रमंडल के अमूल्य मोतियों को अपनी समेट में घसीटते हुए धरती की ओर झुक आए थे। इस प्रकार दोनो जलदपटल जब चारो ओर से बरस पड़ते हैं, तब यदाकदा उस प्रबल प्रभूत वर्षा के साथ पृथ्वी पर मोती बरस जाया करते हैं। ऐसे अमूल्य आँसू विरहिणी मारवणी ने गिराए। सृष्टिविधा की इस प्रक्रिया को समझे बिना मोतियों की वर्षा समझ में आ नहीं सकती। क्योंकि मोती गिरानेवाले, शीत और उष्ण दो प्रकार की बूँद बरसानेवाले लाल बादलों का ज्ञान केवल कुछ पारगत 'रगबाजों' को ही होता है। दोहे की प्रथम अर्द्धाली के 'राता रतन्न' शब्द इसी लिये मार्मिक है। क्योंकि और विरहिणियाँ 'रो रो कर आँखें लाल कर लेती हैं', इसके विपरीत प्रस्तुत विरहिणी आँखें लाल पहले कर लेती हैं और आँसू बाद में 'नाँखती' है। इसलिये रत्ती जैसी लाल आँखों की लालिमा का कारण अश्रुपात नहीं हो सकता, कुछ और है। बिना रोए भी आँखें लाल हो जाया करती हैं। निदानशास्त्र के आधार पर हृदय की घुटन से प्रकुपित चतुर्दिक् प्रसरणशीला मथवाय (मस्तकवात) नेत्रों में मथकर लालिमा पैदा कर देती है। अस्तु, विस्तारभय से अन्य स्थलों की चर्चा न कर यहीं समाप्त करता हूँ।

*

हिंदी में बावनी - काव्य - परंपरा

वासुदेव सिंह

प्रत्येक देश में काव्यरूपों का निर्माण और विकास वहाँ की सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों के अनुसार ही होता है। काव्यरूपों के निर्माण में अन्यान्य संस्कृतियों का भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने लिखा है कि 'जब जब कोई जाति नवीन जाति के संपर्क में आती है, तब तब उसमें नई प्रवृत्तियाँ आती हैं, नई आचारपरंपरा का प्रचलन होता है, नए काव्यरूपोंकी उद्भावना होती है और नए छंदों में जनचित्त मुखर हो उठता है।'[1]

हिंदी काव्यरूपों के निर्माण और विकास के कई स्रोत रहे हैं। कुछ काव्यरूप संस्कृत की देन हैं, कुछ काव्यरूपों का विकास प्राकृत, अपभ्रंश आदि के अध्ययन से हुआ है। कुछ काव्यरूप ऐसे भी हैं, जिनको हिंदी ने जन्म दिया है। दूसरे और तीसरे वर्ग के काव्यरूपों की संख्या बहुत बड़ी है, किंतु उनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय काव्यरूप चरितकाव्य, रासा या रासो काव्य, वेलिकाव्य, मंगलकाव्य, विलासकाव्य, लीलाकाव्य और बावनीकाव्य हैं।

बावनी काव्य की रचना नागरी वर्णमाला के आधार पर होती है। हिंदी में स्वर और व्यंजन मिलाकर बावन अक्षर होते हैं। प्रत्येक अक्षर के आधार पर एक छंद की रचना की जाती है। इन बावन अक्षरों को नादस्वरूप ब्रह्म की स्थिति का अंश मानकर इन्हें पवित्र अक्षर के रूप में प्रत्येक छंद के आरंभ में प्रयुक्त किया जाता है। डा० मजूमदार ने लिखा है कि 'ग्राम्यशाला में जब बालक की शिक्षा प्रारंभ होती है तो उसे ककहरा से आरंभ करते हैं। प्रत्येक अक्षर को सिखाने के लिये एक पद्य का प्रयोग होता है, इसी प्रणाली को कवियों ने उपदेश देने के लिये अपनाया। प्रायः बावनी संज्ञक रचनाओं में ५२ पद्य दिए जाते हैं। बावन अक्षर व्यवहार में आनेवाले लोकविदित हैं। तिरपनवाँ अक्षर ब्रह्म है, जो इन अक्षरों का निर्माता है।'[2] लेकिन बावनी काव्यों में ५२ छंदों का ही अनिवार्य रूप से प्रयोग नहीं हुआ है, अपितु यह छंदसंख्या ४० और ६० के मध्य बदलती रही है।

१. हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० ६० ।

२. डा० शिवप्रसादसिंह, सूरपूर्व ब्रजभाषा और साहित्य, पृ० १२० ।

हिंदी जगत् में पाँच छः बावनी काव्य ही विख्यात रहे हैं, यद्यपि इनकी रचना बड़ी मात्रा में हुई है। केवल अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर में ही २५–३० बावनी काव्यों की हस्तलिखित प्रतियाँ सुरक्षित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकाल के कवियों ने धार्मिक नैतिक उपदेश देने के लिये इस काव्यरूप को प्रमुख रूप से अपनाया था। इन ग्रंथों को प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। यहाँ हम संक्षेप में कुछ बावनी काव्यों का परिचय दे रहे हैं।

१७वीं १८वीं शताब्दी के कवियों ने इस रूप को विशेष महत्व दिया था, यद्यपि इसकी परंपरा १३वीं एवं १४वीं शताब्दी से खोजी जा सकती है। १३वीं शताब्दी के अंत में ही पृथ्वीचंद्र ने 'मातृका प्रथमाक्षर दोहरा' की रचना की थी। यह प्रथम बावनी काव्य माना जाता है। इसके पश्चात् कबीर लिखित एक बावनी का पता चलता है। यह बावनी कबीरग्रंथावली में संगृहीत है। सं० १६६२ में स्वामी अग्रदास ने 'हितोपदेश उपखाण बावनी' की रचना की थी। भूषण की भी एक 'शिवाबावनी' प्रसिद्ध है, लेकिन इसमे वर्णानुक्रम का ध्यान नहीं रखा गया है। सं० १७२५ में धर्मवर्धन ने 'धर्मबावनी' की रचना की थी। इसमे ५७ पद्य हैं। आरंभ मे 'ॐकार उदार अगम्य अपार, संसार मे सार पदारथ नामी' आदि शब्दों मे इष्टदेव की वंदना की गई है। सं० १७३१ में जिनरंगसूरि ने प्रबोधबावनी की रचना की थी इसमे ५४ पद हैं। अंत में रचनाकाल इस प्रकार दिया हुआ है —

> शशि गुन मुनि शशि संवत शुक्ल पक्ष,
> मगसर बीज गुरु अवतारी है।
> खल दुरबुद्धि कौ अगम भाँति भाँति करि,
> सज्जन सुबुद्धि कौ सुगम सुखकारी है ॥५४॥

अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर में सं० १७३० की जिनहर्ष रचित दूहाबावनी की प्रति भी सुरक्षित है। इसमें ५३ दोहे हैं। अंतिम दोहा इस प्रकार है —

> सतरैसै ओसै समै, नवमी शुक्ल आषाढ़।
> बोधक बावनी जसा, पूरण करी कृत गाढ़ ॥५३॥

'जिनहर्ष' का दूसरा नाम जसराज भी था। इन्होंने सं० १७३८ में एक दूसरी बावनी 'जसराजबावनी' की भी रचना की थी। जसराजबावनी मे ५७ पद्य हैं। जैसा कि पहले कह चुके हैं, इन सभी बावनी काव्यों का विषय धार्मिक तथा नैतिक उपदेश ही है। राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (चतुर्थ भाग) में कवि केशवदास रचित 'केशवबावनी' का भी उल्लेख मिलता है। इसका रचनाकाल संवत् १७३६

भावया शुक्र पञ्चमी बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने धनार्जन की इच्छा से ही इस काव्य की रचना की थी, क्योंकि उसने प्रारंभ में लिखा है —

ॐकार सदासुख देवत ही नित, सेवत वांछित इच्छित पावै।
बावन अच्छर माहि सिरोमणि, योग योगीसर ही इस ध्यावै॥
ध्यान में ज्ञान में वेद पुराण में, कीरति जाकी सबै मन भावै।
केसवदास कुँ दीजो दौलति, भाव सौं साहिब के गुण गावै॥ १॥

ये केशवदास, रामचंद्रिका कविप्रिया, रसिकप्रिया आदि के रचयिता प्रसिद्ध कवि केशवदास से भिन्न प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनकी मृत्यु सं० १६७४ के आसपास ही हो गई थी। इन्होंने भी 'रतनबावनी' नामक एक बावनीकाव्य की रचना की थी। किंतु उसका विषय दूसरा है। उसमे इद्रजीतसिंह के बड़े भाई रत्नसिंह की वीरता का वर्णन छप्पय छंदों मे किया गया है।

इसके पश्चात् स० १७६७ की लिखी 'उपदेशबावनी या कृष्णबावनी' मिलती है। इसके कर्ता कवि किसन हैं। इसमें ६१ पद हैं। अंतिम पद इस प्रकार है —

सिरि सिंघराज लोकां गच्छ सिरताज,
आज तिनकी कृपा जु कविताई पाई पावनी।
संवत सतर सतसठे बिजैदसमी की,
ग्रंथ की समापत भई है मनभावनी॥
साधवी सुज्ञान मा की जाई श्री रतनबाई,
तजी देह ता परि रची है बिगतावनी।
मत कीनी मत लीनी ततहि पे रुच दीनी,
बाचक किसन कीनी उपदेस बावनी॥६१॥

सत्रहवीं - अठारहवीं शताब्दी मे ही ब्रह्मदीप नामक कवि ने 'अध्यात्मबावनी' की रचना की थी। इसमे ७७ पद्य हैं। इसमें कुछ वर्णों के आधार पर एक से अधिक छंदों की रचना की गई है। इसकी हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्रभांडार, जयपर में सुरक्षित है। अध्यात्म विषय का यह अच्छा ग्रथ है। इसके पश्चात् स० १८०१ की कवि निहालचद की लिखी 'ब्रह्मबावनी' मिलती है। इसमे ५२ छद हैं। इसी ज्ञानसार ने 'गूढ़ाबावनी' की रचना की थी। और इसके एक वर्ष पश्चात् सं० १८०२ में रुघपति नामक कवि ने 'जैनसार बावनी' लिखी थी। इसमें ५८ पद्य हैं। अंतिम अंश इस प्रकार है —

संवत सार अठार बिडोतरै, भादव पूनम के दिन भाई।
किद्ध चौमास नापासर में, तहाँ स्वामी अजित जिणंद सहाई॥

श्री जिनसुख यतिसर के, सुविनीत विद्या के निधान सदाई।
पाय नमी रुघपति पर्यंपित, बावन अक्षर आदि बुलाई॥५८॥

सं० १६०५ की लिखी 'सवैयाबावनी' भी मिलती है। इसके कर्ता कवि चिदानंद बताए गए हैं। इसमें ५८ छंद हैं। इन रचनाओं के अतिरिक्त कुछ बावनियाँ ऐसी भी हैं, जिनका रचनाकाल ज्ञात नहीं है। ऐसी रचनाओं में विनययत्ति रचित 'अन्योक्ति बावनी' (पद संख्या ६२), लक्ष्मीवल्लभ कृत 'दूहा बावनी' (दोहा संख्या ५८), कवि मान कृत 'बावनी' (पद्य ५४), मोहनदास की बावनी (पद ४३), कवि जटमल की बावनी (पद ५४), सुंदरदास की बावनी (अपूर्ण), ब्रह्मरूप लिखित 'लघु ब्रह्म-बावनी' (पद ५४), बालचद्र रचित 'सवैया बावनी' (पद ५६), और हंसराज रचित 'हंसराज बावनी' (पद ५२), के नाम आते हैं। इनमे से अधिकाश ग्रंथों का लिपिकाल १७ वीं या १८ वीं शताब्दी है। इससे अनुमान होता है कि इनकी रचना भी १६ वीं, १७ वीं और १८ वीं शताब्दी मे हुई थीं। इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर में सुरक्षित हैं।

ये सभी रचनाएँ धार्मिक विषयों से ही संबंधित हैं। 'ओंकार' शब्द से प्रत्येक रचना प्रारंभ हुई है। इन रचनाओं में अधिकाश के कर्ता जैन कवि ही रहे हैं। इससे अनुमान होता है कि बावनी काव्य लिखने की प्रथा जैन कवियों मे काफी लोक-प्रिय रही है, यद्यपि कबीर, केशव और भूषण आदि जैनेतर कवियों ने भी इस काव्य-रूप को अपनाया।

बावनी की ही शैली मे बारहखड़ी, ककहरा अथवा अखरावट की भी रचनाएँ हुई हैं, लेकिन इनकी छंद संख्या मे काफी अंतर मिलता है। महयदिण कवि ने १३वीं शताब्दी के लगभग अपभ्रंश भाषा मे एक 'बारहखडी' की रचना की थी। इसमे ३३४ दोहा छंद हैं। इसमें कवि ने प्रत्येक व्यंजन के सभी स्वर रूपों मे एक एक छंद की रचना की है। इस प्रकार एक ही व्यंजन के दस या ग्यारह रूप (जैसे क, का, कि, की, कु, कू, के, कै, को, कौ, कं) बन गए हैं और प्रत्येक रूप के आरंभ से एक छंद की रचना की गई है। इसकी हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्रभांडार, जयपुर मे सुरक्षित है।

सं० १७६० मे हिंदी में कवि दत्त ने 'बारहखड़ी' की रचना की थी। लेकिन इसमें ७४ पद्य ही हैं। रचनाकाल इस प्रकार दिया है—

संवत सतरह से साठै, जैठ बदी तिथि दूज।
रवि स्वाति बारहखड़ी, करि कालिका पूज॥ १॥

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में (पृ० ३४५) श्री किशोरीशरण लिखित

'बारहखड़ी' (सं० १७६७) का उल्लेख किया है। सं० १८५३ में चेतन नामक कवि ने 'अध्यात्म बारहखड़ी' लिखी थी।

संवत ठारे त्रेपने, सुकुल तीज गुरुवार।
जेठमास को ज्ञान यह, चेतन कियो विचार॥

इसी समय की लिखी कवि सूरत की एक 'जैन बारहखड़ी' भी मिलती है। कवि ने अंत में कहा है —

बारहखड़ी हित सूँ कही, सही गुनियन का ईस।
दोहे तो चालीस हैं, छंद कहे बत्तीस॥

गुजराती मे भी इसी शैली में कुछ ग्रंथों की रचना हुई है। लेकिन गुजराती मे इन्हें कक्क काव्य या ककहरा कहते हैं। मलिक मुहम्मद जायसी ने भी अपने 'अखरावट' को 'ककहरा' कहा है —

कहौं सो ज्ञान ककहरा, सब आखर महँ लेखि।
पंडित पढ़ अखरावटी, टूटा जोरेहु देखि॥

(जायसी ग्रंथावली — अखरावट, पृ० ३०३)

जायसी का यह 'अखरावट' बावनीशैली में ही लिखा गया है। प्रत्येक वर्ण के आधार पर चौपाई आरंभ की गई है। सात अर्धालियों के बाद दोहा छंद का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार पूरे अखरावट में ५३ छंद हैं। १९ वीं शताब्दी में राजा विश्वनाथसिंह ने भी एक 'ककहरा' की रचना की थी।

बावनी, बारहखड़ी और अखरावट के ही समान हिंदी में चौबीसी, पचीसी, बत्तीसी, छत्तीसी आदि काव्यरूप भी काफी प्रचलित रहे हैं। जैन कवियों ने चौबीसी, पचीसी आदि की रचना बहुत अधिक मात्रा मे की है। इन सबका विस्तार से अध्ययन आवश्यक है।

शासनविधान के संदर्भों में 'अराजक'

राघवेंद्र वाजपेयी

प्राचीन भारतीय राजनीति के दो पारिभाषिक—मात्स्यन्याय और अराजक—शब्दों के प्रयोग को आधुनिक हिंदू राज्यशास्त्री समानार्थी अथवा पर्यायवाची मानने लगे हैं। वस्तुतः इस भ्रम को जन्म देने का श्रेय गुप्तकालीन धर्मार्थशास्त्रीय ग्रंथों के संस्करणों को मिलना चाहिए। इनके मूल अर्थों तथा प्रयोगों के साम्य और वैषम्य का विवेचन महत्वपूर्ण होगा।

पारिभाषिक अर्थों मे मात्स्यन्याय शब्द का प्रयोग बृहस्पति, कौटिल्य तथा अन्य परवर्ती लेखकों ने समान रूप से किया है।[1] इस शब्द के रूप और भावों का निरूपण और अर्थशास्त्रीय शब्दावली में इसका प्रयोग हिंदू अर्थशास्त्रियों की विशेषता है। प्रकृति का शाश्वत नियम है जिसके अंतर्गत बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है और उसे उससे बड़ी। इसी क्रम से प्रकृति जल, स्थल और आकाश तीनों में शक्तिशाली के जीवन और शक्तिहीन के अस्तित्व का विनाश प्रकट करती है। प्रकृति के इस नियम मे भी एक घोर अनियमितता के दर्शन होते हैं जिसके अनुसार नियंत्रक शक्ति के अभाव मे शक्तिहीनों का अस्तित्व समान नहीं है। प्राचीन मनीषियों ने प्रकृति के इसी नियम को न्याय और राज्य की नियंत्रक शक्ति के अभाव में सामान्य स्थिति माना था। प्रकृति के क्रियाकलापों में आस्था रखनेवाले अर्थशास्त्री यह मानते थे कि प्रारंभ मे धर्म की नियंत्रक शक्ति थी, जिससे सभी बाधित होते थे।[2] धर्म की शक्ति के क्षीण होने से सामाजिक संतुलन बिगड़ गया। नियामक

१. नीतिवाक्यामृत, पृष्ठ १०९—

दण्डयं दण्डयति नो यः पापदण्डसमन्वितः।
तस्य राष्ट्रे न सन्देहो मात्स्यो न्यायो प्रकीर्तितः॥

अर्थशास्त्र, १-११, पृ० २२—

मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे।

२. बृहस्पतिस्मृति, संस्कारकाण्ड, श्लोक, ७-८—

शक्ति के अभाव में अव्यवस्था फैल गई और शक्तिशाली लोगों का शासन हो गया'। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों मे नियमितता समाप्त हो गई।[3] यही संक्षेप में बार्हस्पत्य मात्स्यन्याय का स्वरूप था।

बृहस्पति तथा भीष्म समान रूप से मात्स्य - न्याय - सिद्धांत में आस्था प्रकट करते हैं। वे मानते हैं कि राज्य की उत्पत्ति के पहले एक दीर्घकालीन व्यवस्थित समाज का युग था, जो धर्मानुकूल स्वतः नियन्त्रित था। धीरे धीरे मानवीय दुर्बलताओं के कारण युगह्रास हुआ। पतन की अंतिम सीमा पूर्ण अव्यवस्था अथवा मात्स्यन्याय का युग था, जिसे समाप्त करने के लिये राज्य और राजा की उत्पत्ति हुई थी।[४] गुप्त युग तक आते आते धर्मार्थशास्त्रियों ने मात्स्य - न्याय - युग के लिये अराजक युग लिखना प्रारम्भ कर दिया।[५] यदि राज्य के विकास की पूर्वावस्थाओं का उचित ढंग से अवलोकन किया जाय तो प्रतीत होगा कि मात्स्यन्याय ही नहीं प्रारंभिक कृतयुगीन समाज भी अराजक था। अतः मात्स्यन्याय और अराजक शब्दों को पर्यायवाची मानना उचित नहीं है।

समस्या के समाधान के लिये व्याकरण और राजनीतिक विकासों का साक्ष्य समानरूप से महत्वपूर्ण होगा।

'अष्टाध्यायी' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'क' प्रत्यय का प्रयोग, उसकी रचना के समय प्रारम हो चुका था। 'क' प्रत्यय के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए पाणिनि 'वासुदेवक' शब्द उदाहरणार्थ लाते हैं। उनके मतानुसार, वासुदेव कृष्ण के उपासक 'वासुदेवक' कहलाते थे।[६] अशोक के अभिलेखों मे जिले के प्रशासक के लिये 'राजुक' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[७] पाणिनीय प्रयोगों के अनुसार वह विधान या

कृतेऽभूत्सकलो धर्मस्त्रेतायां त्रिपदः स्थितः
पादः प्रविष्टोऽधर्मस्य मत्सरद्वेषसम्भवः।
धर्माधर्मौ समौ भूत्वा द्विपादौ द्वापरे स्थितौ।
तिष्ये धर्मस्त्रिभिः पादैर्धर्मः पादेन संस्थितः॥

३ शांतिपर्व, ६८-८-३८, बृ० स्मृ० संस्कारकांड, श्लोक ७ - ८।

४. वही, ६१ - १४ - ११।

५. बृ० स्मृ० व्यवहारकांड, १ - ८ — नाराजके कृषिवणिक्कुसीदपरिपालनम्।

६. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३६२ —
वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् ४। ३। ९८।

७. सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस — डा० डी० सी० सरकार, पृ० २१ — रौक एडिक्ट्स आव् अशोक, थर्ड रौक एडिक्ट: गिरनार वर्शन; फोर्थ पिलर एडिक्ट: देहली-टोपरा वर्शन्स हैव राजूक ऐंड लजूक, रेस्पेक्टिवली।

व्यवस्था जिसमें राजा कर्ता अथवा शासन का केंद्रीय अधिकारी हो 'राजक' होगा और जहाँ राजा कर्ता नहीं होगा, वहाँ विधान अराजक होगा। शासनप्रणाली के संदर्भ में उल्लेख ऋग्वेद में ही मिलने लगते हैं। आरण्य साहित्य भी राजा शब्द का प्रयोग करता है।[८] संभवतः 'अराजक' शब्द मात्यों की गणतंत्रात्मक शासनप्रणाली की ओर संकेत करता है। अवैदिक व्यवस्था होने के कारण महाभारत का 'अराजक'-विरोधी होना विचित्र न होगा।[९]

'अराजक' शब्द का प्रयोग शासनविधान के संदर्भ में बृहस्पति ने किया है। राजतंत्र के समर्थक के रूप में शासक की प्रतिभा और बुद्धि पर शासन की कुशलता मानते हुए वे बहु-बुद्धि-शासित अराजक शासनव्यवस्था की प्रशंसा करते हुए कहते हैं– 'अराजराष्ट्र परस्पर रक्षा कर लेते हैं किंतु मूर्खशासित (राजतंत्रों) का शीघ्र क्षय हो जाता है।'[१०] इस स्थल पर निर्विवाद रूप से राजतंत्रों और गणतंत्रों के मौलिक अंतर की ओर संकेत करते हुए बृहस्पति राजा के व्यक्तित्व में 'राजद्रव्य' अथवा 'सर्वगुणोपेत'[११] शासक के दर्शन करना चाहते हैं।

८. डिक्शनरी आव् पालि प्रौपर नेम्स, मलालसेकर, पृ० ७८१ — औल दि लीडिंग मेंबर्स आव् ह्विच वेयर कौल्ड राजा। दीघनिकाय (पी० टी० एस०) डेविड्स ऐंड कार्पेंटर, वाल्यूम् ३, पृ० १२ – १३।

९. शांतिपर्व, ६७ - ५।

१०. नीतिवाक्यामृत, पृ० ५१—

अराजकानि राष्ट्राणि रक्षन्तीह परस्परम्।
मूर्खो येषां भवेद्राजा तानि गच्छन्ति संक्षयम्॥

११. डिक्शनरी आव् पालि प्रौपर नेम्स, मलाल सेकर, पृ० ७८१ — दि लिच्छविज वेयर ग्रेटली ऐडमायर्ड फौर देयर सिस्टम आव् गवर्नमेंट। इट वाज ए रिपब्लिक (गण, संघ), औल दि लीडिंग मेंबर्स आव् ह्विच वेयर कौल्ड राजा। दे हेल्ड फुल ऐंड फ्रीक्वेंट एसेंब्लीज ऐट ह्विच प्रौब्लेम्स एफेक्टिंग आइदर दि होल रिपब्लिक आर इंडिविजुअल मेंबर्स वेयर फुल्ली डिस्कस्ड। ह्वेन दि एसेंब्ली ड्रम वाज हर्ड, औल लेफ्ट अदर ड्यूटीज ऐंड एसेंबल्ड इमीडिएटली इन दि संथागारसाला। सम टाइम्स, ऐज ऐपियर्स फ्रौम दि स्टोरी आव् दि कन्वर्शन आव् सीह, रेलिजन वाज़ औल्सो डिस्कस्ड ऐट दि मीटिंग। दि रूल्स आव् प्रोसीजर एडौप्टेड एविडेंटली दोज फौलोड इन दि उपसंपदा और्डिनेशन आव् मौंक्स। बिसाइड्स दि राजाज, देयर वेयर औल्सो न्यूमरस उपराजाज,

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री राजतंत्रों के समर्थक थे। गणतंत्रों की ओर उनके संकेत समकालीन राजनीति से प्रभावित हैं। गणों की गण और संघीय शासन-प्रणालियों के विस्तृत वर्णन बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होते हैं। लिच्छवियों के गण और वज्जिसंघ के प्रमुख सदस्य के रूप में वर्णन उपलब्ध होते हैं। दोनों की राजधानी वैशाली थी। लिच्छवियों का संस्थागार, उसकी सभाएँ, वादविवाद तथा बहुमतनिर्णय विशेष रूप से प्रसिद्ध रहे।[११]

शांतिपर्व के अराजक उल्लेखों और वृष्णि संघ को आधार मानकर डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने प्रजातंत्र के पोषक के रूप में उसे आदर्श शासन-प्रणाली माना है, यद्यपि इसकी हिंदू राज्यशास्त्रियों ने भर्त्सना की है। इस शासनविधान का आदर्श था कि धर्म शासक है और शासन किसी व्यक्ति का नहीं होना चाहिए। इस राज्य का मूल पारस्परिक समझौते अथवा प्रजा के सामाजिक अनुबंध में था। यह उग्र प्रजातंत्र का स्वरूप था—लगभग टालस्टाय के आदर्श पर।[१२] अन्यत्र अराजक गणतंत्रों का आधार व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को मानते हुए उनका कथन है कि व्यक्तिवाद का उग्ररूप अराजक राज्यव्यवस्था या शासकविहीन राज्यवाद था। उस वर्ग के राज्यशास्त्रियों ने सरकार को एक दोष माना था। किसी व्यक्ति में कार्यपालिका शक्ति निहित नहीं थी। केवल धर्म या न्याय ही शासक था एवं अपराधी घोषित व्यक्ति के लिये निर्वासन ही उन्हें मान्य था। व्यक्ति की सर्वोच्च शक्ति किसी एक व्यक्ति को या व्यक्तियों की संस्था को नहीं सौंपी जा सकती थी।[१३]

सेनापतीज ऐंड भांडागारिकज। देयर वाज ऐन इलेबोरेट जुडीशल प्रोसीजर।

१२. हिंदू पोलिटी, डा० के० पी० जायसवाल, पृ० ८२ - ८३ — दि अराजक और 'नौन रूलर' वाज ऐन आइडियलिस्टिक कौंस्टिट्यूशन ह्विच केम टु बी दि ऑब्जेक्ट आव् डेरिजन आव् पोलिटिकल राइटर्स आव् हिंदू इंडिया। दि आइडियल आव् दिस कौंस्टिट्यूशन वाज दैट ला वाज टु बी टेकेन ऐज दि रूलर ऐंड देयर शुड बी नो मैन-रूलर। दि बेसिस आव् दि स्टेट वाज कंसीडर्ड टु बी म्यूचुअल एग्रीमेंट आर सोशल कौंट्रैक्ट बिटवीन दि सिटिजेंस। दिस वाज ऐन एक्स्ट्रीम डेमोक्रेसी आल्मोस्ट टौल्स्टायन इन दि आइडियल।

१३. वही, पृ० १६५—दि एक्स्ट्रीम केस आव् इंडिविजुअलिज्म औन दि अदर हैंड वाज़ दि थ्योरी आव् दि अराजक स्टेट, दि नो रूलर स्टेट। गवर्नमेंट

यही नहीं अराजक शासनप्रणाली के अंतर्गत लिखित संविधान की भी वे संभावना प्रकट करते हैं।[14] डा० जायसवाल के मत की सम्यक् समीक्षा के लिये बीसवीं शती के प्रथम तीन दशकों की राष्ट्रीय चेतना और स्वतंत्रता के निमित्त आंदोलनों की ओर संकेत अप्रासंगिक न होगा। १९१३ से १९२४ तक डा० जायसवाल अपने लेख विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में समय समय पर प्रकाशित करते रहे। अंग्रेजी उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारतीय चिंतन विकसित हो रहा था। राष्ट्रीय विचारधारा का सृजन और स्वतंत्रता की मांग को शास्त्रीय समर्थन प्रदान करने के लिये प्राचीन भारत में जनतंत्र अथवा संघ राज्य की स्थिति सिद्ध करने के प्रयत्न डा० जायसवाल प्रभृति लेखक कर रहे थे। उनका यह प्रयत्न श्लाघनीय था।

बौद्ध साहित्य और महाभारत दो पृथक् स्तरों पर गणतंत्रों और संघीय शासन-प्रणाली का वर्णन करते हैं। बौद्ध साहित्य बुद्धपूर्व और बुद्धयुगीन गणतंत्र-व्यवस्था का वर्णन करता है जब कि महाभारत अंधक वृष्णि, कुकुर आदि गणों और संघों का वर्णन करता है। बौद्ध साहित्य वज्जियों के संस्थागार, उनकी संघीय कार्य-प्रणाली, विचारस्वातंत्र्य आदि का वर्णन करता है। ललितविस्तर लिच्छवियों में प्रचलित साम्यभावना का उल्लेख करता है।[15] पालि साहित्य में कहीं भी बौद्ध गणतंत्रों के लिखित संविधान के वर्णन उपलब्ध नहीं होते। उनकी समानता की भावना नागरिक अधिकारों के संदर्भ में प्रतीत होती है, जो गणतंत्रों के साम्यवादी दृष्टिकोण का प्रतिबिंब है। इस संदर्भ के आधार पर डा० जायसवाल से सहमत होना कठिन है कि गणतंत्रों मे व्यक्तिवाद चरम सीमा पर था। गणतंत्रात्मक शासन-

इटसेल्फ वाज रिगार्डेड बाई दि थ्योरिस्ट्स आव् दैट क्लास आव् स्टेट ऐज ऐन ईविल। नो मैन वाज वेस्टेड विद दि एक्जिक्यूटिव पावर। ओनली दि ला वाज टु रूल, ऐंड दि ओनली सैंक्शन दे प्रेस्क्राइब्ड फौर वन फाउंड गिल्टी आव् क्राइम वाज़ औब्स्ट्रेसिज्म। दि सौवरेंटी आव् दि इंडिविजुअल वाज नौट टु बी डेलीगेटेड टु एनी वन मैन और ए बौडी आव् मेन।

१४. वही, पृ० ११४ – दि डिस्कशन औन दि अराजक स्टेट इन दि महाभारत आलसो शोज फैमीलियरिटी विद ए रिटेन थ्योरी आव् दि अराजक कौंस्टीट्यूशन।

१५ ललित विस्तर, संपादक, ई० लेफमैन, वाल्यूम १, पृ० २१ — अपर आहुः साम्यप्रतिरूपा······तेन साम्यप्रतिरूपा। क्षत्रिय क्लास इन बुद्धिस्ट इंडिया, डा० बी० सी० ला से उद्धृत।

प्रणाली आधुनिक गणतंत्रों का पूर्वरूप (प्रोटो टाइप) प्रतीत होती है। डा० जायसवाल ने गणतंत्रों के धर्म के प्रति दृष्टिकोण का भी उल्लेख किया है। यह गणों की ही विशेषता न थी। वैदिक भावना के अनुसार भी धर्म ही शासक था।[17] दंड धर्मपुत्र था[18] धर्म की रक्षा के लिये ही राज्य को दंडधर और उत्थित दंड होना पड़ता था।[19] धर्म की ही स्थापना के निमित्त राजत्व का उद्भव और विकास हुआ था।[20], अतः धर्म को शासक मानने की परंपरा अराजकों की कोई विशेषता न थी क्योंकि अर्थचिंतन के अंतर्गत भी राजा केवल प्रमुख कार्यपालक अधिकारी होता था। गणतंत्रों में भी प्रधान या सभापति होता था जो राजा कहलाता था।[21] यही नहीं, बौद्ध साहित्य के वर्णनों से स्पष्ट है कि लिच्छवियों या मल्लों का कोई लिखित संविधान नहीं था। अंधक - वृष्णियों के भी लिखित संविधान के वर्णन नहीं मिलते। अतः गणतंत्र शासनप्रणाली को परंपरागत नियमों पर आधारित मानना अधिक उचित होगा।

उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि 'मात्स्यन्याय'और 'अराजक' दो पृथक् पारिभाषिक थे। राजत्व का अभाव ही उनका साम्य था, जो हिंदू धर्मशास्त्रियों को

१७. ऋग्वेद में 'ऋत' शब्द का प्रयोग ब्रह्मांड की कार्यप्रणाली और उसके शाश्वत नियमों के लिये हुआ है। ऋत का अधिष्ठाता देवता वरुण था, जो भौतिक जगत् एवं नैतिकता का स्वामी था। उसका स्थान सम्राट् का था। वरुण कठोर शासक था। कोई भी ऋत में अवरोध उत्पन्न करनेवाला चाहे देवता ही क्यों न हो, वरुणपाश से नहीं बच सकता था। उसे उल्लंघन के लिये दंड मिलता था।—दि वेदिक एज; पृ० ३६५—६६; ए हिस्ट्री आव् इंडियन पोलिटिकल आइडियाज, पृ० २३—आव् मच ग्रेटर सिग्नीफिकेंस इज ए सेलिब्रेटेड ऐंड औफ्ट कोटेड ऐक्स्ट्रैक्ट (१४ - ११ - १५) आव् बृहदारण्यक उपनिषद् ह्विच फौर्म्स दि सप्लीमेंट आव् शतपथ ब्राह्मण '' 'ही वाज नौट स्ट्रौंग एनफ : ही क्रियेटेड स्टिल फर्दर दि मोस्ट एक्सेलेंट धर्म · देअरफोर, धर्म इज दि क्षत्र आव् क्षत्रः देयर इज नथिंग हायर दैन दि धर्म।'

१८. मनुस्मृति; ७, १३ – १४।

१९. शांतिपर्व, ५९ - १४; अर्थशास्त्र; १ - ४ पृ० ६।

२०. बृ० स्मृ०, व्यवहारकांड; १, ८ - ९; शांतिपर्व; ५९, १३ - ४७; मनु ७ - ३।

२१. दीघनिकाय, वाल्यूम ३, पृ० ६२ - ९३।

विशेष रूप से खटकता था। मौर्यों के उदय के साथ अराजक राज्य भारतीय राजनीति के रंगमंच से विलीन हो गए। समुद्रगुप्त की शक्तिवृद्धि के समय एक बार फिर उत्तर भारतीय सक्रिय राजनीति से दूर राजपूताने में वे अपना अस्तित्व छिपाए हुए थे। राजनीतिक महत्व के अभाव में गुप्तयुग तक आते आते अराजक शब्द का मूल संदर्भ विस्मृत हो गया। आर्य परंपरा के विपरीत होने के कारण उनकी वर्ज्य स्थिति[22] स्मृतियों के गुप्तकालीन संस्करणों के समय तक अराजकता[23] (मात्स्यन्याय) पोलिटिकल केऑस की पर्यायवाची बन गई थी। वर्तमान युग में उसके सही मूल्यांकन का श्रेय निर्विवाद रूप से स्वर्गीय डा० काशीप्रसाद जायसवाल को है।

❀

२२ शांतिपर्व, ६७, २—नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति वैदिकम्।

२३. बृ० स्मृ० व्यवहारकांड; १ - ८; मनु० ७ - ६।

विमर्श

'संदेशरासक' के रचयिता का निवासस्थान और नाम

'सदेशरासक' के आरभ में अपना परिचय देते हुए कवि ने लिखा है —

पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसो त्थि ।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥
तह तणओ कुल कमलो पाइय कव्वेसु गीयविसएसु ।
अहहमाण पसिद्धो संनेहरासयं रइयं ॥[1]

इन गाहाओं से कवि के विषय मे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम यह कि कवि का जन्मस्थान पूर्वप्रसिद्ध 'मिच्छदेस' है। दूसरे, उसी प्रदेश में मीरसेण आरद्द का पुत्र अद्दहमाण उत्पन्न हुआ, जिसने सदेशरासक की रचना की।

भायाणी ने 'मिच्छदेस' का मूल रूप 'म्लेच्छदेश' माना है।[2] पं० हजारी-प्रसाद द्विवेदी 'म्लेच्छदेश' के साथ ही 'मिथ्यादेशना' अर्थ भी मानते हैं।[3] हमारा अनुमान है कि 'मिच्छदेस' वस्तुत 'मत्स्यदेश' का ही विकृत रूप है। 'अगुत्तर-निकाय' मे जो षोडश जनपदों का उल्लेख मिलता है, मत्स्य जनपद उन्हीं म से एक है।[4] यमुना का पश्चिमी एव कुरुओं का दक्षिणी प्रदेश—अर्थात् वर्तमान जयपुर एव अलवर राज्य, भरतपुर का कुछ हिस्सा तथा तिरहुन का दक्षिणी भाग—मत्स्य जनपद कहलाता था।[5]

'सदेशरासक' मे दो स्थानों, मुलतान एव विजयनगर, के वर्णन उपलब्ध होते हैं। इन वर्णनों को ध्यानपूर्वक पढने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनो नगरों के वर्णनों मे पर्याप्त अतर है। मुलतान का वर्णन[6] पढते समय ऐसा लगता है

१. संदेशरासक, संपादक हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम प्रक्रम, छंद ३-४।
२. संदेशरासक, संपादक जिन विजय मुनि, भूमिका, पृ० १७।
३. संदेशरासक, प्रस्तावना, पृ० ५।
४. प्राचीन भारत का इतिहास, भगवतशरण उपाध्याय (प्रथम संस्करण), पृ० ८३।
५. द ज्याग्राफिकल डिक्शनरी आव् एंशियंट ऐंड मेडिवल इंडिया, नंदलाल डे (द्वितीय संस्करण) पृ० १२८।
६. संदेशरासक, हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्वितीय प्रक्रम, छंद ४२ - ४७।

मानो कोई व्यक्ति किसी बड़े शहर को देखने आ निकला था और नगर की सड़कों पर चलते हुए जो प्रधान दृश्य उसकी स्मृति में प्रवेश कर गए थे, उन्हीं का वर्णन उसने किया है। इस प्रकार का वर्णन कल्पना के द्वारा भी किया जा सकता है। किंतु विक्रमपुर का जो वर्णन[७] प्राप्त होता है, उससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि कवि वहाँ की प्रकृति, लोकसंस्कृति, सामाजिक रीतिरवाज आदि से खूब परिचित था। अतः हमे यह मानने में कोई कठिनाई नहीं जान पड़ती कि वह विक्रमपुर (या बीकानेर) के निकटवर्ती किसी ऐसे स्थान का निवासी था जो प्राचीन मत्स्य जनपद मे पड़ता था।

यद्यपि अन्य जनपदों के समान मत्स्य जनपद भी ई० पू० ७वीं शताब्दी तक ही प्रबल था[८] और उसके बाद धीरे धीरे उसकी शक्ति क्षीण हो गई, किंतु इतनी दीर्घ अवधि के पश्चात् भी किसी विद्वान् पंडित के मन मे उसकी गौरवमय परंपरा का मान रहना कोई अस्वाभाविक बात नहीं। वर्तमान उज्जैन नगर का कोई निवासी आज भी कभी कभी अपने को उज्जयिनी (उज्जैन का प्राचीन नाम) का निवासी कह दिया करता है।

मुनि जिन विजय ने विजयनगर या विक्रमपुर की स्थिति वर्तमान जैसलमेर राज्य मे बतलाई है।[९] ऊपर हमने इसे बीकानेर का ही दूसरा नाम माना है। किंतु श्री जिनचंद्र सूरि जिन्होंने वि० सं० १६४८ मे 'अकबर प्रतिबोध रास' की रचना की थी, उक्त ग्रंथ में कथा के आरंभ मे ही विक्रमपुर और जैसलमेर दो भिन्न स्थानों का उल्लेख किया है।[१०] इसकी कुछ ही पंक्तियों के बाद वे विक्रमपुर का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि उस समय वहाँ का राजा रामसिंह था।[११] इतिहास देखने पर ज्ञात होता है कि उस समय रामसिंह बीकानेर का राजा था।[१२] अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विक्रमपुर बीकानेर का ही दूसरा नाम था।

इस विवेचन के दो निष्कर्ष इस प्रकार हैं — प्रथम यह कि 'संदेशरासक' का रचयिता कवि अद्दहमाण प्राचीन मत्स्य जनपद में पड़नेवाले किसी नगर का निवासी था, दूसरे, वर्तमान बीकानेर का ही दूसरा नाम विजयनगर या विक्रमपुर था।

७. वही, तृतीय प्रक्रम, छंद १३१ - २२०।

८. प्राचीन भारत का इतिहास, भगवतशरण उपाध्याय, पृ० ८३।

९. संदेशरासक, प्राक्कथन पृ० १२।

१०. रास और रासान्वयी काव्य, डा० दशरथ ओझा एवं डा० दशरथ शर्मा, द्वितीय खंड, पृ० २७२, छंद २२।

११. वही, पृ० २७२, छंद २८।

१२. एनल्स ऐंड ऐंटीक्विटीज आव् राजस्थान, कर्नल जेम्स टाड, पृ० १०१६-१७।

कुछ विद्वानों ने अद्दहमाण का शुद्ध रूप अब्दुल रहमान मानकर उसे मुसलमान जुलाहा बतलाया है।[13] 'रास और रासान्वयी काव्य' के प्रधान संपादक श्री 'रुद्र' काशिकेय ने उसके जुलाहा एव मुसलमान होने में शका प्रगट की है।[14] इस विषय में हमारा निवेदन है कि मीरसेण और अद्दमाण दोनो ही हिंदू थे। 'मीर' फारसी का ही नहीं संस्कृत का भी शब्द है। मोनियर विलियम्स ने 'मीर' शब्द का अर्थ 'समुद्र' एव 'पर्वतैकदेशः' दिया है, साथ ही उणादि का सदर्भ भी दिया है।[15] किंतु उणादिकोश में 'पर्वतैकदेशः' का कोई उल्लेख नहीं है। उणादिकोश के अनुसार 'मीरः उदन्वति' (समुद्र का वाचक) है।[16] अतः मीरसेण को हिंदू मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। फिर अद्दहमाण का शुद्धरूप अभिमान भी हो सकता है।[17]

अद्दहमाण को हिंदू मानने मे विद्वानों को एक और कठिनाई हुई है। वह यह कि कवि ने अपने को 'कोलिय' स्वीकार किया है।[18] परतु हमारा निवेदन है कि जुलाहा मुसलमान ही हो यह आवश्यक नहीं है, हिंदू जुलाहा भी तो हो सकता है। 'भोजप्रबध' में एक कुविंद का वर्णन मिलता है जो हिंदू था और विद्वान् कवि भी।[19] इसी प्रकार पचतत्र मे एक मथरक नामक कौलिक की कथा मिलती है जो हिंदू था।[20] आज भी उत्तर प्रदेश के वाराणसी आदि जिलों में एक 'कोरी' जाति मिलती है जो हिंदू है और उसका व्यवसाय जुलाहे का होता है। अतः उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मीरसेण एव उसका पुत्र अद्दहमाण दोनो हिंदू थे।

— गोकुलचंद्र शर्मा

❀

१३. संदेशरासक, मुनि जिनविजय, प्राक्कथन, पृ० १२, हिंदी-काव्य-धारा, राहुल सांकृत्यायन (प्रथम संस्करण), पृ० ३०, संदेशरासक, हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रस्तावना, पृ० ५।

१४. रास और रासान्वयी काव्य, परिचय, पृ० ३ - ४।

१५. ए संस्कृत - इंगलिश डिक्शनरी, मोनियर विलियम्स, सन् १८५१ ई०।

१६. उणादि कोश, महादेव वेदांतिन्, संपादक डा० के० कुजुण्णिराज (सन् १९५६ ई०) पृ० ३४, सूत्र २५ - १६।

१७. रास और रासान्वयी काव्य, परिचय, पृ० ४।

१८. संदेशरासक, हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रक्रम १, छंद १९।

१९. भोजप्रबंध, कवि बल्लाल कृत (सन् १९०८) पृ० १८ - १९।

२०. पंचतंत्रकम् (सन् १९५२) पृ० २०३।

पुलिस

पुलिस शब्द किस भाषा का है, यह विचारणीय है। प्रवीण लोग इस शब्द को विदेशी समझते हैं। चेंबर के शब्दकोश के अनुसार यह यूनानी शब्द 'पोलिस' से बना है जिसका अर्थ है नगर। किंतु पुलिस शब्द सम्राट् अशोक के अभिलेखों मे भी मिलता है यथा— प्रथम, चतुर्थ और सप्तम स्तंभलेख। प्रथम और चतुर्थ स्तंभलेखों मे पुलिस शब्द बहुवचन है और 'पुलिसा' शब्दरूप प्रयुक्त है। सप्तम स्तंभलेख मे पुलिसानि शब्द है।

देवप्रिय प्रियदर्शी अशोक कहता है—मेरी पुलिस उत्तम, मध्यम और निम्न श्रेणी की है। पर वे सब मेरी आज्ञा के अनुसार काम करते हैं। वे प्रयत्न करते हैं कि चपलमति भी ईमानदारी से रहें। आगे अशोक कहता है (१४८ खी० पू०) हमारी पुलिस भी हमारी आज्ञा का पालन करेगी। सप्तम स्तभलेख में लिखा है — लज्जुक (= राजुक) और पुलिस हमारे आदेशों का पूर्ण प्रचार करें। इससे स्पष्ट है कि अशोक के समय पुलिस की प्रणाली कितनी विकसित थी। टोपरा, इलाहाबाद, मेरात और नदगढ सभी उपलब्धिस्थानों मे पुलिस का स्वरूप एक समान है। इससे प्रकट है कि यह शब्द भारतीय है और स्यात् सस्कृत के किसी शब्द का अपभ्रश है किंतु यह शब्द किसी भी सस्कृत या पाली शब्दकोश में नहीं मिलता। हुल्श ने अपने ग्रथ मे इस शब्द का अगरेजी में अर्थ एजेंट किया है। भारतीय शब्दकोशों म इस शब्द की अप्राप्ति का कारण केवल यही हो सकता है कि इसके पीछे भारतीयों की विचित्र मनोवृत्ति ही प्रमुख रही है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस शब्द को भारतीय स्वीकार नहीं किया अतः किसी भी कोश में यह शब्द स्थान न पा सका।

कुछ लोग इस शब्द की व्युत्पत्ति पुरुष से करते हैं किंतु पुरुष का अपभ्रंश-रूप पुलुष या पुलुस भले ही हो सकता है पर उससे पुलिस कैसे बनेगा। स्यात् यह शब्द पुरीश (पुरी + ईश) का अपभ्रंश है और इसका अर्थ होगा नगर का स्वामी या रक्षक। अशोक के पितामह चंद्रगुप्त मौर्य के महामत्री चाणक्य (१६वीं शती खीष्टपूर्व) ने अपने अर्थशास्त्र मे पुलिस के कार्यों का पूर्ण विवेचन किया है। इसके अध्ययन से पता चलता है कि सोलहवीं शती खीष्टपूर्व में भी पुलिस-पद्धति कितनी सुविकसित थी। अशोक के लिये पुलिस के ऊपर उतना आश्रित होना संभव न होता यदि पूर्वकाल से उसे अपनी सुसगठित और कुशल पुलिस की मदद न मिलती।

कालिदास अपने अभिज्ञानशाकुंतल में नागरक और आरक्षी शब्दों का उल्लेख करता है। इसी कारण भारत के कई राज्यों के शासन मे पुलिस शब्द के स्थान पर आरक्षी का प्रयोग आरम कर दिया गया है। खेद है कि अशोक के बाद शतियों तक

(शेरशाह के काल १६वीं शती ई० तक) इस देश में पुलिस का विकास कैसे हुआ, इसका ज्ञान हमें नहीं होता। शेरशाह की पुलिसव्यवस्था की प्रशंसा इतिहासकारों ने मुक्त कंठ से की है। किंतु शेरशाह ने तो केवल ५ वर्ष (१५४०-१५४५ ई०) राज्य किया। अपितु वह सदा रणक्षेत्र के संघर्षों में व्यस्त रहा। उसे शासन-व्यवस्था और निर्माणकार्य को संगठित करने का समय ही न मिला। संभव है उसे शासनव्यवस्था और निर्माणकार्य अपने पूर्ववर्ती शासकों से विरासत के रूप में मिले। सारे देश में ग्रामगणतंत्र और स्वायत्त शासन की ऐसी सुव्यवस्था थी कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति युग युग तक सुरक्षित रही। कोई राजा हो, गाँव अछूते रहे। भारतीय कला, विज्ञान और संस्कृति की अटूट प्रगति का यही रहस्य है।

मुगल शासकों ने भी प्राचीन पदचिह्नों पर ही अपनी पुलिसव्यवस्था बनाई। स्थानीय जिम्मेदारी ही इसका मौलिक सिद्धांत था। मुगलों के समय चोरी के विरुद्ध बीमा होता था। मुगलों की पुलिसव्यवस्था में विदेशी और देशी दोनों ही तत्वों का सम्मिश्रण था। पश्चिमी एशिया के इस्लाम राज्य में ऐसे पुलिस अधिकारी होते थे जिनका मुख्य काम था—प्रजा के आचरण की जाँच करना और उन्हें धर्म-मार्ग पर स्थिर रखना। इस अधिकारी को मुहतसिब कहते थे। इसका अर्थ होता है लेखा रखनेवाला। डाक्टर परमात्माशरण ने इसका ठीक अनुवाद किया है – जनता के आचरण का गुण - दोष - विवेचक। बाद में ज्यों ज्यों मुगल साम्राज्य विकसित हुआ मुहतसिब बाजारों का निरीक्षण और पुलिस के अन्य कार्य भी करने लगे।

डाक्टर परमात्माशरण ने मुहतसिब के बारे में एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। उनके द्वारा अनूदित इस शब्द के अर्थ पर हमें गंभीरता पूर्वक विचार करना चाहिए। पश्चिमी एशियाई देशों ने जनता का आचरण इतना महान् रखने की कला कब, कैसे और कहाँ से सिखी, इसके लिये हमें पुनः अशोक के अभिलेखों की ओर जाना चाहिए। अशोक ने देश और विदेश सर्वत्र ही मानव जाति के लौकिक और पारलौकिक कल्याण के लिये अनेक धर्ममहामात्रों को नियुक्त किया था। संभव है अशोक द्वारा प्रचारित यह व्यवस्था अनवरत चलती रही और मुगलों ने इस प्रथा को अपने समय पुनः प्रचारित किया। अतः धर्ममहामात्र ही इस्लामकाल के मुहतसिब प्रतीत होते हैं। अतः पुलिस शब्द विदेशी नहीं वरन् भारतीय ही प्रतीत होता है।

—देवसहाय त्रिवेद

*

चयन

हिंदी

तमिल काव्यशास्त्र

न० वि० राजगोपालन

भारतीय साहित्य, आगरा, वर्ष ६, अंक ४, अक्टूबर १६६१ मे प्रकाशित हिंदी निबंध का साराश—

भारतीय भाषाओं में संस्कृत के पश्चात् तमिल प्राचीनतम मानी गई है। स्वपरंपरानुसार दस हजार ई० पू० के पूर्व तमिल साहित्य वर्तमान था। कुछ उल्लेखों तथा भौगोलिक प्रमाणों के अनुसार उसके प्राचीन साहित्य का विशाल अंश दो जलप्लावनों मे नष्ट हो गया। अब तक प्राप्त प्राचीनतम तमिल ग्रंथ तोलकाप्पियर-रचित तोलकाप्पियम है। इसका समय चौथी शती ई० पू० माना गया है। इसका विषय व्याकरण तथा काव्यशास्त्र है। इससे स्वयं प्रमाणित है कि इस काल तक तमिल में पर्याप्त साहित्य का निर्माण हो चुका था। अतः १० वीं शती ई० पू० मे तमिल साहित्य का अस्तित्व प्रमाणित है।

इस ग्रंथ के आरंभ मे ग्रंथकार के सहपाठी 'पेरुम्बार' ने एक स्वरचित 'तोलकाप्पियर' का परिचायक पद्य जोड़ा है। इस पद्य के अनुसार तोलकाप्पियर संस्कृत के ऐंद्र व्याकरण के ज्ञाता थे तथा 'निलतरु तिरुवीर पाण्डियन' राजा की राजसभा में इन्होंने स्वग्रंथ का प्रथम वाचन किया था। पाणिनि का बहुमान्य काल ३५० ई० पू० है। अतः तोलकाप्पियम' इससे पूर्व का माना जा सकता है।

तमिल के प्रथम वैयाकरण महर्षि अगस्त्य हैं। उन्हें 'तमिलमुनि', 'तमिल के संस्कर्ता', 'तमिल भाषा के उपज्ञाता' आदि विशेषण दिए गए हैं। अगस्त्य ने अपने 'अगत्तियम' ग्रंथ में साहित्य, नाट्य और संगीत तीनो के लक्षण बताए हैं। अगस्त्य का उक्त ग्रंथ उपलब्ध नहीं है किंतु उसके नाम पर कुछ सूत्र कुछ ग्रंथों मे उद्धृत हैं। अब तक तो यही है कि तमिल काव्य - शास्त्र - परंपरा का आरंभ 'तोलकाप्पियम' से हुआ।

तमिल के प्राचीन लक्षणग्रंथों के तीन भाग होते हैं—१-अक्षरलक्षण, २-शब्दलक्षण तथा ३-विषयलक्षण। 'पोरुल' अर्थात् विषय, विषयवस्तु को कहते हैं। वैसे काव्यशास्त्र का नाम भी 'पोरुल' है। यद्यपि 'पोरुल' शब्द से मुख्य बोध विषयवस्तु का होता है तथापि इसमें अलंकार, छंद, काव्य के गुणदोष तथा

अभिव्यंजना की कुछ विशेषताओं का विवेचन भी होता है। तमिल में अलकार आदि का स्थान गौण है।

तमिल में काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन सस्कृत से भिन्न है, अतः वहाँ संस्कृत से प्राचीन एक स्वतंत्र काव्यपरंपरा रही है। संस्कृत की भाँति तमिल में रस, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के विभिन्न संप्रदाय नहीं चले और न उनके प्रवर्तक ही हुए। कारण, तमिल में आरंभ से ही काव्य मे विषयवस्तु की मुख्यता तथा अलकार, छदसौंदर्य आदि की गौणता रही। बाद में इसपर अनेक मतांतर रहते भी काव्य का मुख्य तत्व पोरुल ही रहा। दडी के काव्यादर्श का तमिल अनुवाद हुआ, सस्कृत के रस, रीति, वृत्ति आदि का विवेचन भी हुआ पर सस्कृतागत तत्वों का समाहार या समन्वय हो गया, तमिल की स्वतत्र परपरा का निराकरण नहीं।

पोरुल — ससार के सभी पदार्थ, सरूप वस्तु तथा अरूप भाव, इस शब्द से बोधित होते हैं। काव्यलक्षण के प्रसग में 'पोरुल' का तात्पर्य 'काव्य में वर्णित होनेवाला मानव जीवन है। पोरुल के दो मुख्य विभाग हैं—१. प्रेम और २. युद्ध। अहम नामक विभाग मे प्रेम का और पुरम नामक विभाग में युद्ध का विवेचन हुआ है। अहम के दो और विभाग हैं—१. गुप्त या प्रच्छन्न और २. व्यूढ या प्रकाश्य। प्रथम मे प्रेमी प्रेमिका के गुप्त मिलन की स्थिति है तथा द्वितीय में गुप्त प्रेम के प्रकट होने पर उसकी विवाह मे परिणति। अहम के इन दोनो रूपों में अतर्दशाओं का सूक्ष्म निरूपण होता है। अहम को और भी तीन प्रकार से बाँटा गया है—१ नायक नायिका में समान रूप से उत्पन्न प्रेम, २. एकागी प्रेम और ३. असगत काम अर्थात् प्रेम के अयोग्य व्यक्ति से प्रेम या नायक द्वारा नायिका की प्राप्ति की बलात् चेष्टा। इसी प्रकार पुरम में जीवन का बहिरग पक्ष आता है। पुरम वह कहलाता है जिसे समान प्रेम से युक्त नायक नायिका ही नहीं, समाज के अन्य लोग भी समझ सकें और जो स्पष्टता से दूसरों को बताया जा सके। पुरम के प्राचीन तमिल साहित्य मे युद्ध-वर्णन अधिक हुआ है। पुरम के अनेक अतर्भेद हैं।

अलकार — अलकार, भावानुभाव, छद तथा गुणदोष तामिल काव्यशास्त्र में गौण माने गए हैं। तोलकाप्पियम के उपमा अध्याय मे अलकार की चर्चा है। उपमा ही एकमात्र अलकार माना गया है। तमिल की यह अलकारपरंपरा संस्कृत से प्राचीन मालूम पड़ती है।

भावानुभाव — तमिल काव्यशास्त्र मे भावानुभावों का पृथक् निरूपण किया जाता है क्योंकि जीवन के विविध के रूपों के चित्रण में वे सहायक होते हैं।

छंद और गुणदोष — तमिल छद संस्कृत तथा हिंदी के छदों से नितांत भिन्न हैं। तमिल छंद वर्ण या मात्राओं पर नहीं, कुछ ध्वनिसमूहों (व्यंजनों) के आधार पर चलते हैं। मूलभूत ध्वनियाँ चार प्रकार की हैं — १. अ, इ, २. आ, ई,

३. अन्, इन, अदु; इदु, ४. अवन्, कादु। इन चार मूलभूत ध्वनियों से अनेक छंदभेद होते हैं। छंदों में कुछ विशेष लययोजना होती है।

तमिल काव्यशास्त्र की परपरा पर छठी शती ई० पू० के बाद सस्कृत काव्यशास्त्र का अधिकाधिक प्रभाव पड़ने लगा। परिणामस्वरूप तमिल में अलंकारचर्चा विस्तृत रूप से होने लगी। परंतु फिर भी उसमें अनेक संप्रदाय नहीं चले।

*

अंगरेजी

शालभजिका - डालभंजिका

गुस्ताफ राथ

•

जर्नल आव् द एशियाटिक सोसायटी, (लेटर्स ऐंड साइस) खड तेइस स० १, १६५७ में प्रकाशित 'द वूमन ऐंड द ट्री मोटि : फशालभजिका - डालमालिका - इन प्राकृत ऐंड सस्कृत टेक्स्ट्स विद् स्पेशल रेफरेंस टु शिल्पशास्त्रज इन्क्लूडिंग नोट्स आन दोहद' शीर्षक निबध का साराश —

भुवनेश्वर, कोणार्क तथा अन्यत्र एक प्रमुख प्रतीक भावना का लक्षण मिलता है — एक नारी हाथ ऊपर उठाए वृक्ष की डाल को झुकाती हुई। दक्षिण नितब पर उभार तथा क्षीण कटि से युक्त वृक्ष की डाली से लिपटता हुआ उसका हाथ जैसे सब मिलाकर माला का रूप देते लगते हैं। प्रश्न यह है कि प्राचीन कलाकारों की इस कलाभिव्यजना की व्याख्या क्या हो सकती है। इस भाव का प्राचीनतम लक्षण शुगकालीन भारहुत (प्रायः प्रथम शती ई० पू०) में मिलता है।

जे० फोगल ने अपने निबध मे इसे शालभजिका बताया है। उनके निष्कर्ष का आधार अवदानशतक की ५३ वीं कथा है। इसमें अनाथपिंडक द्वारा प्रदत्त श्रावस्ती के जेतवन के पुष्पोत्सव का उल्लेख है। इसमें एक बाला ने बुद्ध को देख कर उनपर शालपुष्प बरसाए। पुनः घर के लिये और पुष्प लाने वृक्ष पर गई और गिर कर मर गई। इसपर फोगल शालभजिका का शब्दार्थ लगाते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस समस्त पद का प्रथमाश 'शाल' (या 'साल') शब्द वृक्ष का द्योतक तथा दूसरा पद 'भंजिका' क्रिया, धातु भंज् या भज् से निष्पन्न है। वे कोशों में दिए 'काष्ठ की मूर्ति' अर्थ का खंडन करते हैं।

सभी उद्धरणों को देखते यह स्पष्ट है कि 'शालभंजिका' पद के प्रचुर प्रयोग स्तंभ तथा भित्ति के संबंध में हैं। परंतु फोगल ने अपने अध्ययन में ऐसे किसी

स्थल का निर्देश नहीं किया है जहाँ कोई ऐसा वर्णन हो जिससे शालभंजिका के रूप का स्पष्ट बोध हो। न उन्होंने श्वेतांबर जैनों के ग्रंथों तथा संस्कृत शिल्पशास्त्रों के प्रचुर उल्लेखों पर विचार किया है। जैन शास्त्रों के द्वितीय उवंग, रायपसेणइज्जा, में सालभंजिया का विस्तृत वर्णन है—तेसि णम् दाराणम् उभओ पासे दुहओ निसीहियाए सोलस सोलस साल भञ्जिआ परिवाडिओ पन्नत्ताओ, ताओणम् सालभञ्जियाओ लीलट्ठियाओ सुपइट्ठियाओ सुअलंकियाओ नाणाविहाराय वसणाओ नाणामल्ल-पिणद्धाओ मुट्ठिगिज्झ - सु-मज्झाओ आमेलग - जमल - जुयल वट्टियअब्भुन्नय - पीण-रइय संठिय पीवर पओ-हाराओ रत्तावन्गाओ असिय केसिओ मिउ-विसय-पसत्थलक्खण-संवेल्लिय अग्गसिरयाओ ईसिम् असोय वरपायव समुट्ठियाओ वाम हत्थग्गहिय अग्ग सालाओ ईसिम अद्ध अच्छि कडक्ख चिट्ठिएणम् लूसमाणिओ विव चक्खुल्लोयण लेसेहि य अन्नमन्नम् खिज्जमणीओ विव पुढवि परिणामाओ सासय भावम् उव-गयाओ चंदाणणाओ चंदविलासिणीओ चंद् अद्ध सम निडालाओ चन्दाहिय सोम दंसणाओ उक्का विव उज्जोवेमणाओ विज्जुघणमिरय सूर दिपन्त तेय अहियरर सन्निकासाओ सिङ्गारागार चारु वेसाओ पासाइ-याओ जाव चिट्ठन्ति।

लेखक ने इसका अनुवाद यों किया है—'प्रत्येक द्वार के दोनो ओर दोहरे दिलहों के प्रत्येक ओर शाखा झुकाती हुई १६ नारियों की पंक्तियाँ सजाई हुई हैं, ये सुआधारित, सुसज्जित, विभिन्न रंगों के वस्त्रों से सुआच्छादित, विभिन्न हारों में वेष्ठित शाखा झुकाती रमणियाँ आमोदपूर्वक खड़ी हैं, उनकी कटि क्षीण हैं जिन्हे मुट्ठी की पकड़ में ले सकते हैं, उनके स्तन मांसल, सुगठित, उभरे, उन्नत तथा किरीटयुग्म के समान वर्तुल, कटाक्ष मादक तथा केश श्याम हैं और उनके केश चोटी पर कोमल, निष्कलंक शुभ चिह्नों से युक्त हैं।

यह उद्धरण स्पष्ट संकेत करता है कि जिस वृक्ष के सहारे सालभंजिआएँ टिकी हैं वह अशोकवृक्ष है, सालवृक्ष नहीं। परंतु उनकी व्याख्या के लिये इससे भी महत्वपूर्ण है सालभंजिआ की मुद्राविशेष का वर्णन—'वामहत्थगहिय् अग्ग-सालाओ।' प्राकृत समास के अंत में 'सालाओ' (शाखाएँ) पद स्पष्टतः सालभंजिआ पर प्रकाश डालता है।

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि सालभंजिआ के संदर्भ में अर्द्धमागधी पाठ में साल शब्द सालवृक्ष के अर्थ में अप्रचलित हो गया। अतः लेखक की राय में 'साल-भंजिआ' पद का अनुवाद होगा 'वृक्ष की शाखा को झुकाती हुई नारी का तक्षण।'

अब इस पद की प्राचीनता का प्रश्न उठ सकता है। इस संबंध में समाधान यह है कि जैन श्वेतांबर ग्रंथों में इसके अनेक उल्लेख इसकी प्राचीनता को प्रथम

शती ई० पू० तक ले जाते हैं, जैसा कि याकोबी का मत है। अर्द्धमागधी के प्राचीन छेद सूत्रों में सालभंजिआ के प्रचुर उल्लेख इस पद की प्राचीनता को ई० पू० दो शती तक स्थापित करने में सहायक होते हैं।

इस संदर्भ में पाणिनि प्राचाम्, क्रीडायाम् (४, २, ७४) पर काशिका-वृत्ति—**उद्दालक पुष्पभञ्जिका, वीरणपुष्पप्रचायिका, शालभञ्जिका, ताल-भञ्जिका** उपलब्ध है।

सारांश यह कि सालभंजिआ पद का निम्नलिखित ऐतिहासिक विकास प्रतीत होता है। मूलतः शालभंजिका प्राच्य भारत की एक शुभ क्रीडा थी जैसा कि पाणिनि ४, २, ७४ पर काशिकावृत्ति में उल्लेख है, साथ ही **उद्दालक पुष्प-भञ्जिका, वीरणपुष्पप्रचायिका और तालभञ्जिका** का भी। अकेले शालभंजिका का उल्लेख अवदानशतक की ५३वीं कथा में है। आगे यह पद 'डाल को झुकाती हुई नारी के तक्षण' का बोधक हुआ।

इन क्रीडाओं की पृष्ठभूमि क्या रही होगी, इसका संकेत कपिलवस्तु के समीप लुंबिनी कानन में भावी बुद्ध के जन्म से संबंधित जातकों की प्रसिद्ध निदानकथा की गाथा मे मिलता दिखता है। इस परंपरा के अनुसार मायादेवी ने अपने जन्मस्थान (मायके) जाते हुए मार्ग मे साल - वन - क्रीडा करने (सालवनकीलन् कीलितुकामता) की इच्छा व्यक्त की। वे एक सालवृक्ष के समीप उसकी एक डाली पकड़ने की इच्छा से गईं। उन्होंने डाली पकड़ने के लिये हाथ बढ़ाया। उसी समय उन्हें प्रसवपीड़ा हुई। परिचारिकाएँ उनके चारो ओर एक पर्दा लगाकर हट गईं। यह विशेष ध्यान देने की बात है कि इसी सालभंजिआ मुद्रा में, उन्होंने बालक को जन्म दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि सालभंजिआ नामक क्रीड़ा उस समय की जाती थी जब सालवृक्ष पूर्ण रूप से कुसुमित होता था और इसमें युवतियों की यह इच्छा रहती थी कि सालवृक्ष के कुसुमों की भाँति ही उनकी संतति भी शुद्ध, सुंदर, प्रसन्नवदन हो।

जहाँतक बौद्ध साहित्य का संबंध है, इससे अधिक नहीं कहा जा सकता। सालभंजिआ शब्द जातकों में, ललितविस्तर में, संपादित गिलगित हस्तलेखों में, अवदान कल्पलता में, पाली विनयपिटक तथा अबतक असंपादित भिक्षुणी प्रकीर्णक मे नहीं मिलता। इसके विपरीत जैन प्राकृत ग्रंथों में सालभंजिआ शब्द प्रचुरता से उपलब्ध है।

इसका समाधान यों हो सकता है — यह हम देख चुके हैं कि मायादेवी की जो मुद्रा भावी बुद्ध को जन्म देने के समय की है, वही मुद्रा सालभंजिआ की भी है। संभवतः इस मुद्रा ने आगे वास्तु में जाकर अधिक सांसारिक रूप ले लिया और बौद्धों को इसमें सांसारिक आनंद की परिव्याप्ति के कारण इसकी चर्चा न रुची हो और वे इसके संबंध में लिखने से विरत रहे।

अन्य संदर्भों के अध्ययन से यह परिणाम निकलता है कि **माडमालिका और डालमालिका** शब्द सालभंजिआ के पर्याय हैं।

निर्देश

जर्नल आव् द एशियाटिक सोसाइटी आव् बांबे, खंड ३४-३५, १९५९-६०

द कंसेप्ट आव् मोरालिटी इन बुद्धिज्म ऐंड जैनिज्म (बौद्ध तथा जैन धर्मों में चारित्र्य की परिकल्पना)—बी० सी० ला।

इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, खंड ३७, सं० १, मार्च १९६१

किंग महेंद्र आव् एलाहाबाद प्रशस्ति (इलाहाबाद प्रशस्ति का सम्राट् महेंद्र)—श्री पी० एल० मिश्र। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में दक्षिण कोशल के सम्राट् महेंद्र का नाम आता है। हाल में उपलब्ध 'महेंद्रादित्य' के सिक्कों से दक्षिण कोशल के इतिहास पर नया प्रकाश पड़ता है। उसके तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर इस निबंध में महेंद्र की पहचान प्रस्तावित है।

ए न्यूली डिस्कवर्ड इंस्क्रिप्शन आव् महाराणा तेजसिंह आव् मेवाड़ (मेवाड़ के महाराणा तेजसिंह का नवोपलब्ध अभिलेख)—श्री आर० सी० अग्रवाल।

वही, खंड ३७, संख्या २ और ३, जून और सितंबर १९६१

द डेमोक्रैटिक ऐटीट्यूड आव् द बुद्ध (बुद्ध का प्रजातंत्रीय दृष्टिकोण)—श्री नंदकिशोरप्रसाद।

जर्नल आव् द यूनिवर्सिटी आव् बाँबे, खंड ३०, सितंबर १९६१ भाग २

सम ग्लिम्प्सेज आव् सोसायटी ऐंड कल्चर ऐज रेफ्लेक्टेड इन द पउमचरिउ (पउम चरिउ में प्रतिबिंबित समाज और संस्कृति की कुछ झाँकियाँ)—पी० एम० उपाध्ये।

ओल्ड लिटरेचर इन वेरियस डायलेक्ट्स आव् मराठी (मराठी की विभिन्न बोलियों में प्राचीन साहित्य)—ए० के० प्रियोल्कर।

क्वायन्स आव् द डार्क एज (अंधकारयुगीन सिक्के)—श्री अद्रिश बनर्जी।

सम ऐस्पेक्ट्स आव् वावेल कंट्रैक्शन इन प्राकृत (प्राकृत में स्वरसंकोचन के कुछ पहलू)—श्री एस० एन० घोषाल।

जर्नल आव् द ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, खंड ११, सं० ३, मार्च १९६२

थ्री लेक्चर्स आन मिडिल इंडो आर्यन (मध्य भारतीय आर्य भाषा पर तीन भाषण)—डा० सुकुमार सेन।

द आर्ट आव् चंबा इन द इस्लामिक पीरिएड (इस्लामी काल में चंबा की कला)—श्री एच० गोएत्ज।

वेराइटीज आव् कन्फ्लिक्ट इन एशियन ड्रामा (एशियाई नाटक में द्वंद्व)—हेनरी डब्लू वेल्स।

फाइव रिडल्स आव् वेदिक एंटीक्विटी (वैदिक प्राचीनता के संबंध में पाँच समस्याएँ) — रामचंद्र कृष्ण प्रभु।

वाराहमिहिरज रेफरेंस टु द आजीविकज (आजीवकों के संबंध मे वाराहमिहर का संकेत) — अजय मित्र शास्त्री।

पालीताना प्लेट्स आव् द मैत्रक किंग ध्रुवसेन फर्स्ट (मैत्रक राजा ध्रुवसेन प्रथम के पालीताणा ताम्रपत्र) — एच० जी० शास्त्री।

जर्नल आव् द ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, खंड १२, सं० १, सितंबर १९६२

ऋग्वेदिक श्रुवत् (ऋग्वेद के श्रुवत् पर विचार)—श्री जार्ज कार्डोना।

ब्रह्मविद्या खंड पचीस भाग १–२, मई १९६२

इंस्क्रिप्शनल एविडेंसेज आन अर्ली हिंदू टेंपुल्स (प्राचीन हिंदू मंदिरों पर अभिलेखात्मक प्रमाण)—पी० आर० श्रीनिवासन्।

ए नोट आन द मंगलवाद आव् द न्यायवैशेषिक स्कूल (न्याय वैशेषिक-मत के मंगलवाद पर टिप्पणी)—वी० वरदाचारी।

जर्नल आव् द आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी, खंड सत्ताइस, १९६१–६२

रेलिजस फेस्टिवल्स इन टेंपुल्स इन मेडिवल आंध्र (मध्यकालीन आंध्र में मंदिरों के पर्व)—श्रीमती ए० वी० कृष्णमूर्ति।

जर्नल आव् द युनिवर्सिटी आव् पूना सं० १५, १९६२

आक्सफोर्ड फिलासफी टुडे (आज का आक्सफोर्ड दर्शन)—पी० आर० दामले।

*

स मी क्षा

खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना

यह एक शोधप्रबंध है जिसमें खड़ी बोली की व्युत्पत्ति, क्षेत्र, रूप, उसकी कविता का संक्षिप्त इतिहास, अभिव्यंजना तथा खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना का तथ्यान्वेषी तथा आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। जहाँ तक खड़ी बोली से संबद्ध तथ्यों का संबंध है लेखिका ने सामग्री के संकलन, चयन में श्रम तथा उपयोग में बुद्धि - विवेक से काम लिया है। उपलब्ध तथ्यों के सम्यक् आलोडन के बाद वह सुविचारित निष्कर्षों पर पहुँच सकी है। खड़ी बोली के संबंध में उसकी तथ्यान्वेषी दृष्टि श्लाघ्य है, इसमें कोई संदेह नहीं। पर प्राक्कथन में उसका यह कथन कि हिंदी में यह धारणा बद्धमूल हो चुकी है कि 'खड़ी बोली' शब्द का नामकरण और अर्थ ब्रजभाषा सापेक्ष्य है, मान्य नहीं हो सकता। इस शोधग्रंथ के पूर्व अनेक विद्वानों ने इस भ्रांति का निरसन किया है और उनका हवाला लेखिका ने स्वयं भी दिया है। यह अवश्य है कि तथ्यों को एक स्थान पर संगृहीत करके उन्हें यथोचित क्रम देने और उनके आधार पर अपने मत को प्रामाणिक बनाने में उसने प्रशंसनीय कार्य किया है।

अभिव्यंजना की व्याख्या करते समय पश्चिम तथा पूर्व के अनेकानेक मतों के आधार पर उसका स्वरूप विश्लेषित किया गया है। इस सिलसिले में कवि के व्यक्तित्व और अभिव्यंजना के संबंधों को लेकर तीन प्रकार के विचारकों का उल्लेख हुआ है — रूपवादी, वस्तुवादी और समन्वयवादी।

क्रोचे, क्लाइव बेल, फ्लाबेयर, कैरिट, रीड ने काव्य में आत्मानुभूति को प्रधान माना है। इनमें क्लाइव बेल, लैंगर्न, ब्रैडले तो इस हद तक रूपवादी हो जाते हैं कि वे वस्तु की एकदम उपेक्षा कर देते हैं। किंतु वस्तुवादी कोटि के विद्वानों के संबंध में लेखिका भ्रांति से बच नहीं सकी है। अरस्तू को वस्तुवादी मानकर कतिपय ऐसी बातों का उल्लेख किया गया है जो तर्कसंगत नहीं ठहरतीं, वे विद्वानों द्वारा स्वीकृत मान्यताओं के अनुरूप भी नहीं हैं। विद्वानों द्वारा स्वीकृत मतों को प्रमाणसंमत ढंग से अस्वीकृत करना महत्वपूर्ण है। वह यहाँ नहीं मिलेगा। लेखिका ने प्लाट का अर्थ गलत ले लिया है। उसने प्लाट को वस्तु अर्थात् विषयवस्तु मानकर उसे वस्तुवादी खाते में डाल दिया है। अरस्तू ने प्लाट को भाव या विषयवस्तु के रूप में कभी नहीं स्वीकार किया है। प्लाट का हिंदी अनुवाद वस्तु, कथावस्तु और कथानक हो सकता है; भाव या विषयवस्तु के रूप में ग्रहण करने से अर्थ का अनर्थ हो

जायगा। प्लाट का उसका मतलब घटनाओं के विन्यास से है। योरप में अरस्तू की इस मान्यता का खूब खंडन भी हुआ है। अरस्तू के आग्रह के विरुद्ध पश्चिमी काव्य-शास्त्र में चरित्रचित्रण को महत्व दिया गया है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के संबंध में भी लेखिका ने कम भ्रांति नहीं उत्पन्न की है। भाषा हमारे विचारों और भावों को व्यक्त करने का सशक्त किंतु दुर्बल साधन है। शब्दप्रयोग में अनवधानता अर्थ में काफी उलट फेर कर देती है। शुक्लजी के विषय में यह कहना कि उन्होंने वस्तु को एकांत महत्व दिया है, भ्रामक है। वस्तु को उन्होंने महत्व दिया है, पर एकांत महत्व नहीं दिया है।

अभिव्यंजना के उपादानों को लेखिका ने भाषा, अलंकरण, शब्दशक्ति, गुण, रीति, वृत्ति आदि नामों से अभिहित किया है। संक्षेप में इनका विवेचन करते हुए उसने खड़ी बोली के कवियों की अभिव्यंजना को उन्हीं उपकरणों में ढूँढा है। इसका फल यह हुआ है कि सारा विवरण रीतिबद्ध हो गया और कवि की अभिव्यंजना अविचारित रह गई है। तत्सम और तद्भव शब्दों की संख्या बताना, अलंकार, गुण, शब्दशक्तियों के उदाहरण गिनाना अभिव्यंजना नहीं है। यदि यही आज की आलोचना मान ली जाय तो मध्यकालीन आलोचना क्या होगी? अभिव्यंजना के ये उपादान बाह्य उपकरण नहीं हैं जिनको काव्य से अलग किया जा सकता है। वस्तु और रूप की एकता को लेखिका ने स्वयं स्वीकार किया है। सिद्धांततः अभिव्यंग्य और अभिव्यंजना में कोई कोई अंतर नहीं है पर कोई यह प्रश्न कर सकता है कि व्यवहार में अभिव्यंजना को कैसे विवेचित किया जाय। यह काफी महत्वपूर्ण और पेचीदा सवाल है। अभिव्यंजना को काव्य का रूप कहा जा सकता है। कोई भी वस्तु रूप लेकर, अभिव्यक्त होकर ही पूर्णता प्राप्त करती है। अभिव्यंजना द्वारा वस्तु को किस सीमा तक पूर्णता मिल पाती है इसे विवेचित करना आवश्यक हो जाता है। किंतु इसकी ओर लेखिका ने ध्यान नहीं दिया है। अलग अलग शीर्षकों के अंतर्गत जो उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं वे न तो एक दूसरे संबद्ध हैं और न सब मिलाकर अभिव्यंजना का स्वरूप ही निर्मित कर पाते हैं।

यद्यपि लेखिका ने 'छंद' को अभिव्यंजना में अंतर्भुक्त न करने का कारण दिया है पर कारण तर्कसंगत नहीं है। छंदमुक्त पद भी कविता कहलाने का अधिकारी है, इसलिये छंद को अभिव्यंजना से बहिर्गत कर देना कोई तुक नहीं रखता। छंद आज की अभिव्यंजना का एक महत्वपूर्ण तंत्र है। १६२० तक हिंदी में छंदों का ही बोलबाला था, इसलिये उसे बहिष्कृत करना और भी असंगत प्रतीत होता है। छंद को छोड़ देने का मतलब है लय को छोड़ देना। निःसंदेह इसे छोड़ कर लेखिका ने अभिव्यंजना के एक श्रेष्ठ उपकरण की उपेक्षा कर दी है।

वस्तुतः इस शोधप्रबंध का महत्व खड़ी बोली संबंधी सामग्री के चयन और उपयोग में ही है। अभिव्यंजना के विवेचन में भी विचारों की सफाई मिलती है। पर जहाँ तक अभिव्यंजना के व्यावहारिक पक्ष का प्रश्न है वह अपनी रीतिबद्धता में स्थूल और निष्प्रभ है। फिर भी लेखिका ने प्रबंधलेखन में पर्याप्त श्रम किया है जिसके कारण अंशों में प्रबंध प्रशंसनीय बन पड़ा है।[1]

—अजीत

रामचंद्र शुक्ल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना पर हिंदी में कई ग्रंथ मिलते हैं—कुछ ग्रंथ हैं और कुछ के आगे शोध विशेषण लगा हुआ है। पर केवल उनकी आलोचना को ही विचार्य बनाने के कारण शुक्ल जी का आलोचक अपनी पूर्णता में व्यक्त नहीं हो पाता। इसके लिये आवश्यक है कि उन्हें उनकी अन्य कृतियों के संदर्भ में भी देखा जाय। और यह तभी संभव है जब उनकी कोई प्रामाणिक जीवनी उपलब्ध हो। इसके लेखक शुक्ल जी के छोटे भाई के पुत्र हैं। इस स्थिति में इसकी प्रामाणिकता पर विश्वास किया जा सकता है।

कुल सोलह अध्यायों में बँटा हुआ यह ग्रंथ शुक्ल जी के प्रारंभिक परिवेश, रुचि, व्यसन, शील-स्वभाव, भाव-विचार आदि के संबंध में जो सामग्री प्रस्तुत करता है उससे उन्हें समग्रता में समझा जा सकता है। पुराने विचारकों की बात जाने दीजिए, प्रसिद्ध अमरीकी आलोचक विंटर आज की आलोचना के लिये लेखक की जीवनी को आवश्यक मानता है।

शुक्ल जी की आलोचना के मूल में पैठने के लिये, उनके संस्कारों की विवेचना के लिये उन सभी संगत तथ्यों का आकलन जरूरी है जो उनके बालविनोद अथवा अटन-भ्रमण आदि में मिलते हैं। एक उदाहरण लीजिए। भेड़ा घाट पर उनकी प्रतिक्रिया द्रष्टव्य है—

'मुझे तो मीरजापुर की काली शिलाओं के आगे ये श्वेत मर्मर की चट्टानें नीरस लगती हैं। भव्यता ने रमणीयता को दबा लिया है। नदी की धारा भी ऊँची ऊँची चट्टानों में हँसती खेलती नहीं दिखाई पड़ती। उसके ऊपर भी सूखे पहाड़ का विस्तार है।' आपसे क्या बताऊँ, मैं हिमालय को भव्य समझता हूँ, रमणीय नहीं! रमणीय तो मुझे अपना विंध्याचल ही मालूम होता है।...

१. खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना—आशा गुप्त; प्रकाशक नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; मूल्य १६.०० रु०।

इसी से समझता हूँ कि हिमालय में गलने से अच्छा विंध्याचल में 'तपना' (तप करना) है।' इसमें शुक्ल जी का पूरा जीवनदर्शन है। रमणीयता उन्हें धरती से संबद्ध करती है, तपना उन्हें साधना और कर्मसौंदर्य से बाँधता है।

शुक्ल जी का दृष्टिकोण भारतीय था जिसके निर्माण में पश्चिमी ज्ञान विज्ञान का कम योग नहीं रहा। उन्होंने अपनी दृष्टि को आधुनिक बनाने के लिये पश्चिमी ज्ञान विज्ञान का परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया था, उन्हें आत्मसात् किया था इसी लिये वे उसे युगानुरूप बना सके। यही कारण है कि वे भरत, आनंदवर्द्धन और अभिनवगुप्त की परंपरा में दीख पड़ते हैं अर्थात् वे उनकी भाँति उन्मुक्त विचारक हैं। लेकिन वे विलायती अनुकृति के पक्षपाती नहीं हैं। इसी का फल है कि वे काव्यसमीक्षा के क्षेत्र में एक स्वस्थ परंपरा प्रतिष्ठित कर सके। किंतु इसका सम्यक् आकलन तभी हो सकता है जब उनकी समस्त कृतियों पर समानांतर विचार किया जाय। इस पुस्तक में लेखक ने इसका प्रचुर संकेत दिया है, यह प्रसन्नता की बात है।

चौदहवें अध्याय में लेखक ने शुक्ल जी की कृतियों, प्राप्त कृतियों की प्रकाशन तिथि तथा उनका संक्षिप्त परिचय देकर इस पुस्तक को और भी उपयोगी बना दिया है। पर जब हम इस जीवनी को योरोपीय साहित्यकारों की जीवनी के समकक्ष रखकर देखते हैं तो इसमें त्रुटियाँ भी दिखाई देती हैं। फिर भी शुक्ल जी की जीवनी प्रस्तुत करके लेखक ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। इससे शुक्ल जी के संबंध में फैली अनेक भ्रांतियों का निराकरण होगा। यह पुस्तक यह भी आशा बँधाती है कि भविष्य में कोई महानुभाव शुक्ल जी की सर्वांगपूर्ण जीवनी लिखने का संकल्प करेंगे।[२]

—ब० सिंह

अहमर्थ और परमार्थसार

सभी भारतीय दर्शनों का एक मुख्य विचार्य विषय है — अहम् (मैं) का स्वरूप। विभिन्न संप्रदाय अपनी पृथक् पृथक् दृष्टियों से अहम् के स्वरूप पर विचार करते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ मे अद्वैत वेदांत की दृष्टि से अहमर्थ पर विशद विचार किया गया है और शेषकृत 'परमार्थसार' नामक ग्रंथ की लेखककृत हिंदी व्याख्या भी दी गई है। 'परमार्थसार' अद्वैतवाद का एक पद्यमय लघु प्रकरण ग्रंथ है जो दार्शनिक जगत् में संमानित भी है।

२. रामचंद्र शुक्ल—स्व० चंद्रशेखर शुक्ल; प्रकाशक वाणीवितान, ब्रह्मनाल, वाराणसी; मूल्य ८.०० रु०।

स्वामीजी ने सिद्ध कर दिया है कि संस्कृतशब्दबहुल हिंदी में जटिल दार्शनिक विचारपूर्ण ग्रंथों का प्रणयन सफलतापूर्वक संभव है। अद्वैतसिद्धि, चित्सुखी, खंडनखंडखाद्य आदि ग्रंथों की लेखनशैली अंशतः यहाँ मिल जाती है और यह विश्वास हो जाता है कि प्रौढ़ दार्शनिक ग्रंथों के मर्म को हिंदी में भी बहुत दूर तक यथार्थ रूप से समझाया जा सकता है। चूँकि सभी शिक्षित व्यक्तियों के लिये यह संभव नहीं है कि वे संस्कृत के विशिष्ट ज्ञाता हो जायँ, अतः वेदांत आदि शास्त्रों के अंतरंग रहस्यों को जानने के इच्छुक व्यक्तियों के लिये एतादृश ग्रंथों का प्रणयन आवश्यक है। स्वामीजी के समान अद्वैत वेदांत में निष्ठावान् व्यक्ति ही इस कार्य को प्रामाणिक रूप से कर सकते हैं और उन्हें करना भी चाहिए।

इस ग्रंथ के प्रणयन में स्वामीजी ने जिस शालीन भाषा का व्यवहार किया है, वह सर्वथा उपादेय है। कभी कभी दार्शनिक ग्रंथों में विपक्षी के प्रति अशालीन वाक्य दीख पड़ते हैं। न्यायमंजरी सदृश प्रौढ़ ग्रंथ में प्रतिपक्षी को लक्ष्य कर 'रे मूढ' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। आचार्यवर शंकर भी नैयायिकों को लक्ष्य कर 'अपुच्छशृंग तार्किकबलीवर्द' वाक्य का प्रयोग कर चुके हैं (बृहदारण्यक भाष्य २।१।२०) जो उनके लिये कदापि शोभन नहीं है। प्रस्तुत ग्रंथ में एतादृश कटु शब्द कहीं भी नहीं हैं। आज के युग में ऐसी ही विचार-शैली अभिनंदित होगी।

जितने परिच्छेदों में ग्रंथ को बाँटा गया है, उनमें किसी विशिष्ट क्रम का ध्यान नहीं रखा गया लगता है, यद्यपि प्रत्येक परिच्छेद में विचार का क्रम सुष्ठु ही है। अहमर्थ के प्रतिपादन में सर्वत्र शांकर वेदांत की दृष्टि का ही समर्थन है, पर इस विषय में सांख्ययोग के सदृश प्राचीन दर्शन की दृष्टि विशदीकृत नहीं हुई है। अहमर्थ के विषय में पंचशिख आदि (जिनके नाम पर तर्पण किया जाता है) सुप्राचीन महर्षियों के जो मत हैं, उनपर विशद विचार आवश्यक था, यद्यपि सामान्यतया कहीं कहीं सांख्यविद्या का प्रसंग भी है। पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष की धारा इस ग्रंथ में इस रूप से रखी गई है कि कहीं कहीं ग्रंथकार का अपना पक्ष जानना कठिन हो जाता है। गवेषणात्मक ग्रंथों में अपनाई गई परिपाटी यहाँ शायद ही कहीं मिलती है।

ग्रंथ में कुछ ऐसे मतों का प्रतिपादन भी है, जहाँ विद्वानों का मतभेद स्वाभाविक है। यहाँ कहा गया है कि सुप्ति (=निद्रा) में अहंकार नहीं रहता (पृ० ५१)। जब निद्राकाल में श्वासप्रश्वास की क्रिया, परिपाक की क्रिया चलती रहती है और यह प्रमाणित ही है कि अस्मिता की क्रिया से ही शरीर का चालन होता है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि सुप्ति में अहंकार नहीं रहता? निद्राकाल में जाड्याधिक्य के कारण शरीर और मन का चांचल्य बहुत कुछ स्तब्ध रहता है, पर कुछ क्रिया तो

चलती ही हैं। निद्राकाल में जीव की ब्रह्मरूपता - प्राप्ति आदि मत वस्तुतः कल्पना-प्रसूत हैं। निद्रा एक वृत्ति है (योगसूत्र १।१०); प्रत्येक वृत्ति के मूल में जिस प्रकार आहंकारिक क्रिया है, उसी प्रकार निद्रा में भी समझना चाहिए।

स्वामीजी कहते हैं कि निरीश्वर सांख्य के अनुसार प्रकृति - पुरुष - विवेक ही मोक्ष है (पृ० २५५)। विवेक तो मोक्ष का सर्वोच्च अंतरंग साधन है, विवेक मोक्ष - स्वरूप नहीं है, पर साधन में साध्य का उपचार कर ऐसा प्रयोग किया जा सकता है। पुनः स्वामीजी लिखते हैं — सेश्वरवादी सांख्य के अनुसार क्षेत्रज्ञ का ईश्वरसायुज्य ही मोक्ष है। यह सेश्वरसांख्य क्या पातंजल योग है? पातंजलदर्शन को सेश्वरसांख्य मानने की परिपाटी है (सर्वदर्शनसंग्रह मे पातंजलदर्शन का आरंभ वाक्य)। पर क्या पतंजलि ने कहीं भी ऐसा कहा है कि क्षेत्रज्ञ का ईश्वरसायुज्य मोक्ष है? कैवल्य का जो स्वरूप पतंजलि (४।३४) कहते हैं उसके साथ सायुज्य का कोई संबंध ही नहीं है, पुनः वे 'सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्' (३।५५) कहते हैं, इससे भी सायुज्यवाद की पुष्टि अणुमात्र नहीं होती। अपवर्ग के विषय में योगभाष्य मे भी चर्चा है (२।१८, २।२१, २।२३), पर वहाँ भी सायुज्य का कोई प्रश्न नहीं है। वस्तुतः अद्वैत वेदांत - वासनावासित मन ही ऐसा सोचता है पर यह योगशास्त्रीय दृष्टि नहीं है।

पुनः यह भी सोचना चाहिए कि सांख्य के इस 'निरीश्वर' विशेषण का अर्थ क्या है? सर्ववित्सर्वकर्ता ईश्वर सांख्य को मान्य है (सांख्यसूत्र ३।५६–५७), ईश्वरतायुक्त अंतःकरण भी सांख्यशास्त्र मानता है, फिर इस अकांड तांडव का रहस्य क्या है? शांकर वेदांत संमत ईश्वर को सांख्य नहीं मानता, इस कारण यदि सांख्य को निरीश्वर कहा जाय तब तो, एक दर्शन के द्वारा स्वीकृत ईश्वरस्वरूप अन्य दार्शनिकों के द्वारा अस्वीकृत होने के कारण, सभी दर्शन एक दूसरे की दृष्टि में निरीश्वर ही सिद्ध होंगे। शायद स्वामीजी का ध्यान इस समस्या पर आकृष्ट नहीं हुआ। ईश्वरप्रणिधान के अतिरिक्त एक अन्य मार्ग भी कैवल्यसिद्धि के लिये है, जिसका वर्णन कठ आदि उपनिषदों में है, अतः ईश्वरप्रणिधान न करने से ही कोई निरीश्वरवादी नहीं हो जाता, यह मानना चाहिए। सांख्यीय युक्तिप्रणाली से योगशास्त्रसमत ईश्वर भी न्यायतः सिद्ध होता है (कापिलाश्रमीय पातंजलयोगदर्शन १।२५, लखनऊ विश्वविद्यालय)। सांख्य विद्या के जो भी प्राचीन विवरण मिलते हैं, वहाँ कहीं भी सेश्वर-निरीश्वररूप सांख्यभेद नहीं है। यह भेद सांख्य के प्रतिपक्षियों का आविष्कार है जिसका कारण सांख्यज्ञान में अज्ञता ही है।

'मन अनिंद्रिय है' (पृ० ११४) इस मत को स्वामीजी मानते लगते हैं, क्योंकि उन्होंने वेदांत परिभाषा - ग्रंथ - स्वीकृत इस मत का खंडन नहीं किया। पर क्या यह मत श्रुति - स्मृति - पुराणों में वस्तुतः स्वीकृत हुआ है? क्या शंकर भी मन को अनिंद्रिय

मानते हैं ? वस्तुतः 'मन अनिंद्रिय है' इस मत को एक सिद्ध मत की तरह मानकर विचार करना उचित नहीं लगता, इसको एकदेशीय मत मानने में कोई बाधा नहीं है।

इस ग्रंथ में एक दोष यह भी है कि उद्धृत वचनों के आकरनिर्देश देने की परिपाटी ग्रंथकार ने नहीं अपनाई। दार्शनिक ग्रंथों में आकर - स्थल - निर्देश अवश्य रहना चाहिए, क्योंकि पाठक यदि चाहे तो तत्तत् स्थलों को देखकर ग्रंथकार के खंडन मंडन के औचित्य पर स्वयं विचार कर सकता है। आकर - स्थल - निर्देश तो दूर की बात है, ग्रथकार ने सर्वत्र यह भी नहीं कहा कि उद्धृत वचन किस ग्रथ का है। आगामी सस्करण में यह दोष अवश्य ही परिमार्जनीय है।

ग्रथ में पूर्वपक्षों के उल्लेख में 'कहा जाता है', 'कोई कहता है', 'किसी का मत है' ऐसे वाक्य प्रायः सर्वत्र व्यवहृत हुए हैं। हम समझते हैं कि विशिष्ट स्थलों में यथासभव मतप्रतिष्ठापक आचार्य या संप्रदाय का नाम दे देना चाहिए। यद्यपि यह सत्य है कि सर्वत्र किसी एक मत का एक ही आचार्य या सप्रदाय नहीं होता या ज्ञात आचार्यों के अतिरिक्त अन्य अज्ञात आचार्य भी हो सकते हैं। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कभी कभी खडनकर्ता खडनीय मत को ठीक से नहीं भी देख पाता, अतः यथाशक्ति खडनीय मत के मुख्य प्रतिष्ठापक आचार्य या संप्रदाय का उल्लेख करना उपादेय ही होगा।

ग्रथ मे अपूर्ण या अशुद्ध आकर स्थलों के निर्देश भी हैं। पृ० २४१ पर बृहदारण्यक का एक वाक्य उद्धृत कर स्थल निर्देश मे 'बृ० ३' लिखा गया है, जो अपूर्ण है। इसी प्रकार पृ० १४७ पर 'श्वे० ३' कहकर श्वेताश्वतर उपनिषद् का वाक्य उद्धृत किया गया है, जो अपूर्ण है।

मूल ग्रथ से न मिलाने के कारण ही (पृ० २६७) ऋग्वेद परिशिष्ट के एक मंत्र के उद्धरण में 'संगते' छप गया है जो 'संगये' होगा। अन्यत्र भी कई ऐसे वचन हैं जो सर्वथा मूलानुसारी नहीं हैं, यद्यपि अर्थ मे भ्रम नहीं होता। उद्धरण की शुद्धि के प्रति दृष्टि न डालने के कारण ही पृ० १८४ पर एक हास्यकर बात हुई है। यहाँ कुछ श्लोक उद्धृत किए गए हैं जो शांतिपर्व के मोक्षधर्मप्रकरण के हैं, ऐसा कहा गया है और श्लोकों के उद्धरण के बाद 'सर्वदर्शनसग्रह' का हवाला भी दिया गया है। यहाँ इस ग्रंथ का उल्लेख किस दृष्टि से किया गया, यह अज्ञात है। क्या ये श्लोक मुद्रित शांतिपर्व में नहीं मिलते हैं और सर्वदर्शनसंग्रह में 'मोक्षधर्म' के नाम से उद्धृत हैं ?

कई स्थलों पर ग्रंथों के संक्षिप्त नामों का व्यवहार किया गया है, पर इन नामों की कोई विवरणात्मक सूची नहीं दी गई है जो अपेक्षित है।

ग्रंथ में अनेक मुद्रण की अशुद्धियाँ हैं, जिनका निराकरण आवश्यक है। अंतिम

पृष्ठ पर 'पंचाशीत्या' छपा है, जो 'पंचाशीत्या' होगा; इसी प्रकार पृ० २६७ पर 'अप्‌समयाजी' छपा है, जो भ्रष्ट पाठ ही है।

अंत में अनुरोध है कि यदि इस ग्रंथ का द्वितीय संस्करण हो तो कम से कम कठिन और अप्रसिद्ध पारिभाषिक शब्दों और न्यायों की परिचयात्मक टिप्पणी अवश्य हो, इससे हिंदी पाठक उपकृत होंगे। पृ० १८८ पर 'निषादस्थपति' न्याय का उल्लेख है। इसका परिचय पादटिप्पणी में रहना चाहिए था। आशा है लोकसंग्रही ग्रंथकार अवश्य ही इस सुझाव की उपयोगिता मानेंगे।[3]

—रामशंकर भट्टाचार्य

राजस्थानी कहावतें

कहावतों का संग्रह दो पद्धतियों पर हो सकता है — १. विषयवर्ग मे बाँटकर तथा २ वर्णानुक्रम से। प्राचीनकाल के अधिकांश महत्वपूर्ण कोश विषय - वर्ग - पद्धति पर ही मिलते हैं। किंतु इस युग मे वर्णानुक्रम पद्धति ही सर्वस्वीकृत पद्धति है। विषयवर्ग मे विभाजन की पद्धति कहावत कोश के लिये आज भी बिलकुल उपेक्षणीय नहीं। इसी लिये इस युग में भी विषय - वर्ग पद्धति पर कहावतों के संग्रह निकले हैं। एंशिएंट जेविस प्रोवर्ब्स ऐसा ही संग्रह है। कई भाषाओं, जनपदों या राष्ट्रों की कहावतों को तुलनात्मक दृष्टि से भी संगृहीत किया जा सकता है। १८८५ में लदन से प्रकाशित मिसेस ई० बी० माउर का संग्रह 'अनालागस प्रावर्ब्स इन दि टेन लैंग्वेजेज़' एक तुलनात्मक संग्रह है।

डा० सहल की प्रस्तुत पुस्तक में केवल राजस्थानी कहावतें संगृहीत हैं किंतु बीच बीच में 'मि०' द्वारा गुजराती, संस्कृत आदि भाषाओं की कहावतों और कवियों आदि की उक्तियों को उद्धृत किया गया है। इससे भावों की एकता का किंचित् आभास अवश्य मिल जाता है। उदाहरण के लिये पृ० ११५ पर १०६७ वीं कहावत की तुलना 'साकेत' के निम्न पद्य से की गई है—

'दिन देख नहीं सकते सविशेष किसी जन का सुखभोग कभी' और कहावत संख्या १०६९ का अर्थ देने के बाद लिखा है —

मि० १. दिनड़ा जाय ताली ज्यूँ देता। २. दिवस जात नहिं लागहिं बारा (तुलसी)। फिर भी यह स्पष्ट है कि तुलनात्मक दृष्टि से इन कहावतों का संग्रह नहीं हुआ है।

३. अहमर्थ और परमार्थसार—स्वामी श्री हरिहरानंद सरस्वती; प्रकाशक डा० राधामोहनसिंह, स्वर्गाश्रमधाम, आरा; पृ० २७०, मूल्य ६.०० रु०।

प्रस्तुत संकलन में मोटे टाइप में मूल राजस्थानी कहावत हैं। प्रत्येक कहावत के बाद उसका आक्षरिक अनुवाद या भावानुवाद दिया गया है। अधिकांश कहावतों के अंत में अभिप्रायार्थ कहीं छोटी या कहीं बड़ी टिप्पणियाँ भी हैं। आक्षरिक अनुवाद देते समय शायद ही कहीं भाषागत विशेषताओं का ध्यान रखा गया है। यथा, संख्या ५८ 'अधा की गफ्फी, बहरा को बटको' कहावत में 'गफ्फी' का अर्थ 'हाथों की पकड़' और 'बटको' का 'बटका' दिया गया है। टीकाकार ने उपर्युक्त अर्थ प्रचलन, व्युत्पत्ति या मात्र अटकल के आधार पर किया है, यह स्पष्ट न हो सका। 'बटका' में तो निश्चय ही लेखक भटका जान पड़ता है। १०२८ वीं कहावत में 'करड़ा' का अर्थ 'दूर' नहीं, 'कड़ा या बेरुखाई जान' पड़ता है। इसी प्रकार 'आँधा आगे रोवै, आपणा दीदा खोवै' का आक्षरिक अनुवाद देने के बाद भावार्थ स्पष्ट करने के लिये लिखा है — 'ज्ञानशून्य के आगे रोना व्यर्थ है'। जब अधा का अर्थ 'ज्ञान शून्य' किया तो फिर रोना का अर्थ 'अपनी बात कहना', 'आप बीती सुनाना' या 'समझाना' आदि करना चाहिए था। १६६ वीं कहावत में आए 'कातर' शब्द का अर्थ 'कातरे' भी अस्पष्ट है। टिप्पणियाँ अधिक और कम के बीच मर्यादा की अपेक्षा रखती हैं। 'आई थी छाय नै घर की धिराणी बन बैठी' जैसी कहावतों का प्रयोग न देना खटकता है। कहावतों के आधार पर प्रकाश न डालना एक बड़ी कमी है। बिना प्रयोग प्रामाण्य के अर्थनिर्धारण कोशविज्ञान की बहुत बड़ी त्रुटि है।

कहावतों मे कभी कभी मुहावरे भी छिपे रहते हैं। टीकाकार का काम है कि इन्हें स्पष्ट करे। कहावत सख्या ६८ मे 'आड़ा आया' मुहावरा है जिसका अर्थ 'सकट मे काम आया' करके लेखक ने भाषा की पकड़ का अच्छा सकेत दिया है। 'अठे किसा काचर खाय है अर्थात् यहाँ दाल नहीं गलेगी' मुहावरा है जो कहावत के स्थान पर जमा है। प्राज्ञोक्ति और लोकोक्ति का अतर शास्त्र और लोक का अंतर है। भूमिका तथा मूल में आए अँगरेजी वाक्यों का अनुवाद देना चाहिए था।[४]

—युगेश्वर

हिंदी साहित्य और बिहार (प्रथम खंड)

'हिंदी साहित्य और बिहार' नामक पुस्तकमाला का यह प्रथम गुच्छ है। इसमें वर्तमान बिहार प्रदेश के नए पुराने १६ जिलों के अलावा पश्चिमी बंगाल में मिलाए गए भागों के केवल हिंदी साहित्य सेवियो की कृतियो का सग्रह और

४. राजस्थानी कहावतें—डा० कन्हैयालाल सहल; प्रकाशक बंगाल हिंदी मंडल, कलकत्ता–१; पृ० १८८, मूल्य ६.०० रु०।

उनसे संबद्ध यथोपलब्ध सामग्री का सुसंपादित क्रमबद्ध संचय किया गया है। सातवीं शती के भाषा कवि 'ईशान' से प्रारंभ कर अठारहवीं शती के 'हरिनाथ' कवि तक कुल २०५ हिंदी साहित्यकारों का इतिवृत्त इस खंड में है। अगले खंडों में १६वीं और २०वीं शती के बिहार के हिंदी साहित्यकारों के इतिवृत्त सोदाहरण रहेंगे। सन् १६१६ से १६६१ तक विभिन्न प्रकार की कार्यस्थिति और बाधाओं के अनंतर इसका संपादन और प्रकाशन संभव हो सका है। ग्रंथ का प्रस्तावना भाग महत्वपूर्ण है जो भौगोलिक आधार, भाषाविचार, हिंदी भाषा, बिहार की भाषा, सिद्धकाल, सिद्धोत्तरकाल इन ६ विभागों में है जिसमें संबद्ध विषय पर विवेचना की गई है। अंत में परिशिष्ट है जिसमें स्थान और प्रवृत्तिनिर्देश के साथ कवि-सूची, उद्धरणों की प्रतीक सूची, व्यक्ति एवं ग्रंथ नामानुक्रमणी, सहायक ग्रंथसूची आदि दे दी गई हैं।[५]

पंचदश लोकभाषा निबंधावली

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना के विभिन्न वार्षिक उत्सवों के अवसरों पर लेखक विद्वानों द्वारा पठित और परिषद् द्वारा वितरित १५ लोक-भाषाओं-संबंधी निबंधों का यह एक महत्वपूर्ण संकलन है। ये निबंध भारत की लोकभाषाओं तथा उनके साहित्य पर हैं। इन लोकभाषाओं में साहित्य के मूलतत्व-सौंदर्य, संस्कृति और माधुर्य अधिकाधिक मात्र में ओतप्रोत हैं। इस संग्रह में मैथिली, मगही, भोजपुरी, अंगिका, नागपुरी, संताली, उराँव, हो, अवधी, बैसवारी, ब्रज, राजस्थानी, निमाड़ी, छत्तीसगढ़ी, नैपाली, इन लोकभाषाओं की स्थिति, साहित्य और भाषा पर विवेचना की गई है। पुस्तकाकार प्रकाशित होने के पूर्व इन निबंधों का संशोधन संपादन उनके लेखकों से करा लिया गया है। आधिकारिक विद्वानों द्वारा लिखित ये निबंध अपनी भाषा और साहित्य के संबंध में संक्षेपतः सर्वांगपूर्ण हैं। भाषाओं के क्षेत्र के स्पष्टीकरण के लिये दो नक्शे दिए गए हैं। किंतु प्रत्येक भाषा के क्षेत्र का मानचित्र न होने से उनकी कोई विशेष उपयोगिता नहीं।[६]

—विश्वनाथ त्रिपाठी

५. हिंदी साहित्य और बिहार—श्री शिवपूजन सहाय; प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; पृष्ठ संख्या ३२२, मूल्य ८.५० रु०।

६. पंचदश लोकभाषा निबंधावली—प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; पृष्ठ संख्या ३१०, मूल्य ४.२० रु०।

चार एकांकी संग्रह

प्राग् ऐतिहासिक काल के भारत की एक झलक छह एकांकियों का संग्रह है। इनमें प्रारंभिक दो - 'रैक्व और जानश्रुति' तथा 'कर्म ही सच्चा वर्ण' छांदोग्य की और तृतीय 'कृषियज्ञ' वाल्मीकि रामायण की कथा के आधार पर हैं। रैक्व और जानश्रुति में 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते' का सुंदर चित्रण है, किंतु मूल कथा को इसमें यथेच्छ विकृत कर दिया गया है। जाबाल-सत्यकाम की कथा द्वारा 'कर्म ही सच्चा वर्ण' की सृष्टि की गई है। कृषियज्ञ में त्रिजट की कथा के माध्यम से बीजों के विकास और कृषि एवं गोधन की उन्नति पर जोर दिया गया है। शेष ३ एकांकी महावीर तीर्थंकर और बुद्ध के संबंध में हैं। बुद्ध की एक शिष्या विशाखा में बौद्ध - जैन - संघर्ष का चित्रण है, 'महावीर का मौनभंग' में महापंडित इंद्रभूति की पराजय की कथा है और 'बुद्ध के सच्चे स्नेही कौन' में बुद्ध के महानिर्वाण की भविष्यवाणी सुन कर भी जो शोकमग्न नहीं होते ऐसे उन बुद्धशिष्यों—तिस्य और धर्माराम की कथा है जो बुद्ध के कथनानुसार 'वीत - राग - भय - क्रोध' की स्थिति प्राप्त कर चुके हैं।

प्राचीन काश्मीर की एक झलक में चार एकांकी हैं। 'जालौक और भिखारिणी' की कथा जालौक की दानप्रियता पर है जिसमे वह एक वृद्धा भिखारिणी द्वारा मांगे जाने पर अपना मांस तक देने को तैयार हो जाता है जिससे उसकी भूख शांत हो। 'चंद्रापीड और चर्मकार' में कथा चंद्रापीड की प्रजावत्सलता की सृष्टि करती है जिसमें प्रमुख चरित्र उभर कर आए हैं। किंतु सवर्ण और अवर्ण में संघर्ष-पूर्ण तनाव की स्थिति का चित्रण उसे अत्याधुनिक पृष्ठभूमि पर ला देता है। फिर काल की दृष्टि से वह सातवीं शती नहीं रह जाती। शेष दो लघु एकांकी 'सहित और रहित' तथा 'अट्ठानबे किसे' में काश्मीरनरेश यशस्कर की न्यायपटुता का रोचक चित्रण हुआ है।

दक्षिण भारत की एक झलक में आठ लघु एकांकी हैं — १. केरल का सुदामा, २. वे आँसू, ३. शिवाजी का सच्चा रूप, ४. सच्चा धर्म, ५. बाजीराव की तस्वीर, ६. सच्ची पूजा, ७. प्रायश्चित्त और ८. भय का भूत। केरल का सुदामा कवि रामपुरम् और मार्तंडवर्मा की कथा पर आधृत है। 'वे आँसू' एक भावनाप्रधान कथा को लेकर निर्मित है जिसमें रामवर्मा और टीपू सुलतान के युद्ध की तैयारी और बीच में नदी की बाढ़ से घबराकर टीपू के हट जाने की रोचक कथा है। 'सच्चा धर्म',. 'बाजीराव की तस्वीर' और 'भय का भूत' छोटे पर रोचकता से पूर्ण हैं। शिवाजी का सच्चा रूप में शिवाजी के 'मातृवत्परदारेषु' रूप का चित्रण है। शेष दो एकांकियों में माधवराव पेशवा और रघुनाथराव पेशवा की कथाएँ निबद्ध हैं।

मुगलकालीन भारत की एक झलक में ५ एकांकी हैं। प्रथम में महाकवि कुंभनदास और जयपुर नरेश मानसिंह की कथा द्वारा महाकवि के अपरिग्रह की पराकाष्ठा का सुंदर चित्रण है। द्वितीय एकांकी 'दि रिलीजन आफ् दि सिक्स' की एक घटना के आधार पर है जिसमें गुरु तेगबहादुर अंग्रेजों के शासन की स्थापना और मुगलसाम्राज्य के पतन की भविष्यवाणी करते हैं। तृतीय नादिरशाह के चरित्र का एक ज्वलंत अंश सामने रखता है और विलास की पुतलियाँ बेगमों के असतीत्व और बेशर्मी पर मुगलसाम्राज्य के पतन का भार देता है। चौथे में साधारण सी बात को कैसे महजबी रंग देकर उभाड़ा जाता है और किस त्याग से उसे सुलझाया जाता है, यह बात इसमें वर्णित मुहम्मदशाह रँगीले के काल की घटना से व्यक्त होती है। अंतिम एकांकी 'द लाइफ एंड ओपिनियन आव् जनरल सर चार्ल्स नेपियर' की पुस्तक की एक घटना पर है। इसमें एक लखनवी नवाब और साहब दंपति की कथा है जो नवाबसाहब को 'रेस्पेक्ट पे करने' अर्थात् इज्जत देने आए हैं। छोटा होने पर भी यह एकांकी रोचक एवं हास्यपूर्ण है।[७]

तीन पाकेट बुक

चीन को चेतावनी—देश पर चीन के अतर्कित एवं विश्वासघाती आक्रमण से क्षुब्ध कविमानस की काव्यवाणी के इधर कई संकलन हुए हैं। इनमें 'चीन को चेतावनी' का महत्वपूर्ण स्थान है। हिंदी की कविताओं के साथ वैदिक, पौराणिक एवं संस्कृत साहित्य की उत्कृष्ट सूक्तियों और उद्बोधक रचनाओं को भी अपना प्राप्य स्थान सादर अर्पित किया गया है। संकलन १७ विभागों में है। प्रत्येक विभाग के शीर्षक के अनुरूप कविताओं का ही इसमें चयन है। इस संकलन में अन्य प्रादेशिक भाषाओं की रचनाओं का सर्वथा अभाव खटकता है। भूमिका 'आभार' रूप में व्यक्त है जिसमें कविवाणी की प्राणप्रदायिनी शक्ति के संबंध में ऐतिहासिक क्रमबद्ध सरस गाथाएँ वर्णित हैं।

कुब्जा सुंदरी—संथा, सुषमा, मैं, युनिवर्सिटी, दशाश्वमेध, कलकत्ता, चौबीस परगना, संथाल प्रदेश, देवघर आदि के घेरे में इस आत्मचरितात्मक उपन्यास या

७. प्राग् ऐतिहासिक काल के भारत की एक झलक, पृ० १७०, मू० २.७५, प्राचीन काश्मीर की एक झलक, पृ० १४०, मू० २.५०; दक्षिण भारत की एक झलक, पृ० १२६, मू० २.७५; मुगलकालीन भारत की एक झलक, पृ० ८८, मू० १.५० — लेखक सेठ गोविंददास; प्रकाशक भारतीय विश्वप्रकाशन, दिल्ली।

औपन्यासिक आत्मचरित की रोचक सृष्टि की गई है। 'नये मूल्य की प्रतिष्ठा के नाम पर कितने ही घोंघे शख लहरों से किनारों पर फेंके जायँगे असंभव स्थापनाएँ होंगी, सत्य कहीं सिर पटकेगा और कुल मिलाकर एक पीढी व्यर्थ चली जायगी', साहित्य संबंधी यह विचार भी प्रौढता के साथ आया है। 'मै' का चरित्र सामाजिक एवं आर्थिक संघर्षों से जूझते हुए एक ऐसे व्यक्ति का है जो मनुष्य पहले है और कुछ बाद में। अष्टम परिच्छेद मे साहित्यिक समाज की गतिविधि का चित्रण है। यह अंश पुस्तक से हटा देने पर भी कथा मे कोई व्याघात नहीं आता। कथा नाममात्र की है जिसे विभिन्न रोचक घटनाएँ जोड़ बटोर कर विस्तृत रूप दे दिया गया है। सशा द्वारा अपनी छोटी बहन पुष्पा का अर्पण और फिर चित्रागदा के रूप में अपने हृद्गत भावों की अभिव्यक्ति दोनों परस्पर विरोधी ठहरते हैं और सशा की मानसिक दुर्बलता के परिचायक हैं। सशा द्वारा पुष्पा का अर्पण अस्वाभाविक और अत्याधुनिक सा लगता है। गार्हस्थिक जीवन का चित्रण जहाँ भी लेखक ने किया है, सशक्त है।

मरने के बाद—पत्रशैली में लिखा उपन्यास जो एक व्यक्ति की मृत्यु पर ६ व्यक्तियों के पत्र से अपना कलेवर पूरा करता है। इसमें पत्नी, मित्र, शत्रु, प्रेयसी, नौकर और पनवाड़ी के पत्रों के आधार पर नायक आनद के चरित्र का चित्रण किया गया है। लेखक ने विभिन्न दृष्टिकोणों से नायक के चरित्र को कुशलता से विकसित किया है। अनेक परस्पर विरोधी जनों के पत्रों के आधार पर नायक का जो व्यक्तित्व सामने आता है उसे लेखक ने अपने वास्तविक रूप में ढाल कर सामने खड़ा किया है। किंतु आनद जैसे असाधारण जीवट के व्यक्ति द्वारा आत्महत्या – जो सभी क्षेत्रों में फैली बुराइयों का विरोधी, उनसे मोर्चा लेनेवाला और उसे अपना सहज धर्म माननेवाला है— परस्पर विरोधी हैं। आनद की आत्महत्या उसकी विचारशून्यता और विवेकराहित्य के साथ सघर्षों से विरति और पलायन का द्योतक हो उठी है। इस दृष्टि से यदि गाँधी जीवन और विचारधारा को सतुलित किया जाय तो बात स्पष्ट हो जाती है। शैली की नवीनता, भाषा की सरसता और सरलता लेखक की कुशलता के परिचायक हैं। पत्रशैली के उपन्यासों में इसका महत्व निर्विवाद है। प्रत्येक चरित्र उभर कर आया है और उसके प्रकाश में नायक के चरित्र का विकास पूर्णतः कलात्मक ढंग से हुआ है।[८]

—जगदीश शर्मा

८. चीन को चेतावनी, संपादक 'रुद्र' काशिकेय; कुब्जा सुंदरी, लेखक श्री ठाकुरप्रसाद सिंह, मरने के बाद, लेखक श्री ब्रजकिशोर नारायण, प्रकाशक - हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, पृ० सं० क्रमशः ११०, १४८, १४८, प्रत्येक का मूल्य एक रुपया।

महामति चाणक्य राजदूत बने

सर्वप्रथम लेखक के उस नीली छतरीवाले को थैंक्स प्रदान के अनंतर अपनी ही श्रीमती को स्वार्थभरे समर्पण के बाद हास्य व्यंग्य के इस निबंधसंग्रह में २० कांड सामने आते हैं—अर्थात् 'दुग्धविभूषण श्यामू' से लेकर 'आडिटर का शुभागमन' तक। इन्हीं में से एक कांड के नाम पर पुस्तक का नामकरण किया गया है। संग्रह के प्रत्येक लेख का व्यंग्य सरल एवं सरस है, कटु नहीं। साथ ही सामाजिक, पारिवारिक, शैक्षणिक आदि सभी क्षेत्रों में फैली बुराइयों पर चुभता एवं मर्मस्पृक् है। लेख छोटे छोटे ही हैं पर 'देखत में छोटे लगैं घाव करत गंभीर' हैं और रोचकता से पूर्ण हैं। गलतियाँ अनेक हैं—संस्कृत के उद्धरणों की तो बात ही जाने दीजिए। वे तो हास्य के आलंबन और उद्दीपन दोनों हो उठे हैं। कामर्स का विद्यार्थी, महामति चाणक्य राजदूत बने, चाटुकारिता एक कला है, कंजूस और कविगण, मोदक महिमा, गाली और कविता, प्रेम का प्रथम अध्याय, कविवर पूछेंद्रजी आदि लेख रोचक हैं।[९]

अर्घ्य

लेखिका की सन् ४८ से ५५ तक की कविताओं का यह संग्रह है। गीतों में अनुभूतियाँ सहज ढंग से व्यक्त हुई हैं और कल्पनाएँ हृदयस्पर्शिनी हैं। इन गीतों में हृदय के उद्गारों की अभिव्यंजना मार्मिक रूप से प्राप्त होती है। गीतशैली में कविताओं का सृजन करना आज दुस्साहस भले कहा जाय पर यह एक तथ्य है जिसका उपगूहन संभव नहीं। इस प्रकार की दुस्साहसिकता का अभाव ही आज नवीनताप्रेम के रूप में साहित्यक्षेत्र में फैल रहा है। यह संकलन प्रारंभिक रचनाओं का है, वसंत श्री, अवसाद, वैधव्यजीवन, निवेदन गीत, शव, दीपावली, अश्रु, शलभगीत आदि सुंदर और प्रभावकर गीत हैं। संकलन पढने के बाद हृदय पर जो भी चित्र अंकित होता है, वह सुखकर एवं संतोषकर होता है।[१०]

—त्रिपाठी

९. महामति चाणक्य राजदूत बने—(हास्य व्यंग्य निबंधसंग्रह); लेखक डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी, प्रकाशक—हिंदी साहित्य संसार, दिल्ली—६, पृ० सं० ११२, मू० ४.३७ न० पै०।

१०. अर्घ्य—(कवितासंग्रह), लेखिका कुमारी राजेश्वरी 'प्रतिमा'; प्रकाशक-मधूलिका पब्लिकेशंस, १४६, सोहबतियाबाग, इलाहाबाद, पृ० सं० ८०; मूल्य तीन रुपये।

श्रद्धांजलियाँ

विगत डेढ़ वर्षों में हमें अनेक मूर्द्धन्य विद्वानों एवं साहित्यसेवियों का चिर वियोग ऐसे समय सहना पड़ा जब राष्ट्रभाषा हिंदी को उनकी नितांत आवश्यकता थी—

डा० परशुराम कृष्ण गोडे

गत जून १९६१ में श्री पी० के० गोडे का आकस्मिक निधन पूना में ७० वर्ष की वय में हुआ। डा० गोडे भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के अन्यतम विद्वान् थे। आपका सारा जीवन गंभीर अध्ययन और शोधकार्य में व्यतीत हुआ। आप के शोधनिबंधों के कई खंड जीवनकाल में ही प्रकाशित हो चुके थे तथा शेष प्रकाशित हो रहे हैं। भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट के अध्यक्ष पद पर रहकर आपने जिस शोधपरंपरा को अग्रसर किया, वह स्तुत्य है। आप्टे के प्रसिद्ध संस्कृत अँगरेजी कोश का तीन खंडों में पुनःसंपादन, न्यू इंडियन एंटीक्वेरी और रिव्यू आव् फिलासफी ऐंड रेलिजन आदि शोधपत्रों के संपादन आपके चिरस्मरणीय कीर्तिस्तंभ हैं। आपके निधन से भारतीय वाङ्मय की अपूरणीय क्षति हुई है।

श्री गोविंद शास्त्री दुगवेकर

अस्सी वर्ष की वय में श्री गोविंद शास्त्री दुगवेकर का निधन गत २८ जून १९६१ को जबलपुर में हो गया। दुगवेकर जी मूलतः मराठी भाषाभाषी थे किंतु हिंदी के प्रति उनकी अटूट निष्ठा थी। यों तो आप सागर के निवासी थे परंतु अध्ययन के बाद काशी को ही आपने अपना कार्यक्षेत्र बना लिया। साहित्य के क्षेत्र में सर्वश्री माधवराव सप्रे, बाबूराव विष्णु पराड़कर तथा लक्ष्मण नारायण गर्दे आपके साथी थे। भारतीय राष्ट्रीयता, संस्कृति और हिंदी के आप प्रबल समर्थक थे। हिंदी रंग-मंच के प्रति आपकी विशेष रुचि थी तथा आपके नाटक—सुभद्राहरण, हर हर महादेव और मालविकाग्निमित्र (अनूदित)—उस समय सफलतापूर्वक अभिनीत हुए जिनमें आप स्वयं अभिनेता भी थे। काशी में हिंदी रंगमंच के प्रोत्साहन में आपका महत्वपूर्ण योग रहा।

श्री गिरधरशर्मा नवरत्न

विगत जुलाई १९६१ मे हिंदी के पुराने सेवक पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न का देहावसान हो गया। आपकी वय ८१ वर्ष की थी। नवरत्न जी मूलतः गुजराती भाषाभाषी थे। आपका जन्म ज्येष्ठ शुक्ला ८ स० १९३८ को झालरा पाटन में हुआ था। झालावाड़ के महाराज दीवान प० परमानद चौबे ने आपकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर 'नवरत्न' की उपाधि से अलकृत किया था। संस्कृत के विद्वान् होते हुए भी हिंदी के प्रति आपका अगाध प्रेम था। हिंदी साहित्य समेलन ने आपको 'साहित्य वाचस्पति' की पदवी से विभूषित किया। खड़ी बोली में आपकी कृतियाँ काफी लोकप्रिय हुई जिनमें सावित्री (प्रबधकाव्य), गीताजलि का बँगला से अनुवाद, उमर खय्याम का हिंदी और सस्कृत में पद्यानुवाद, जयाजयत, राई का पर्वत और चित्रागदा आदि विशेष उल्लेख्य हैं। तकनीकी विषयों पर भी आपने उस युग में पुस्तकें लिखीं जैसे—फल सचय, सुश्रूषा आदि। नवरत्न जी के निधन से हिंदी ने अपना एक पुराना सेवक खो दिया।

श्री नलिन विलोचन शर्मा

गत १२ सितबर, १९६१ को हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक, कवि, निबधकार और सपादक श्री नलिन विलोचन शर्मा का असामयिक अवसान हो गया। स्व० नलिन जी महामहोपाध्याय प० रामावतार शर्मा के ज्येष्ठ पुत्र ही नहीं उनके विद्यारिक्थ के वास्तविक अधिकारी भी थे। उन्होंने विष के दाँत, नकेन के प्रपद्य, साहित्य का इतिहासदर्शन जैसे चोटी के ग्रथ हिंदी को देने के अतिरिक्त लोककथाकोश, लोकसाहित्य, लोकगाथा परिचय, गोस्वामी तुलसीदास, सदलमिश्र ग्रथावली, भारत की प्रतिनिधि कहानियाँ, कथाकुज, निबध, मानस आदि ग्रथों तथा साहित्य, दृष्टिकोण, कविता आदि पत्रों का सपादन कर एक स्वस्थ एव सबल सपादन परंपरा की स्थापना की। उन्होंने उच्चकोटि के शताधिक निबंध भी लिखे थे और लिखते जा रहे थे।

नलिन जी भारतीय साहित्य और सस्कृति के पंडित थे और उन्होंने योरप के महाद्वीपीय साहित्य का भी गहरा अध्ययन किया था। वे प्रकृति से भी अत्यधिक

शालीन, विद्याव्यसनी तथा जिज्ञासु थे। उनकी जिज्ञासा इतनी प्रबल थी कि देश विदेश की साहित्यिक हलचलों को वे सबसे पहले जानने को उत्सुक रहते थे। विचारों की दृढ़ता में वे अपूर्व थे। नए से नए विचारों को ग्रहण करने तथा पुराने प्रतिष्ठित मतों को तर्कपूर्ण ढंग से अस्वीकृत करने में उन्हें देर नहीं लगती थी। उन्हें पूर्णतः आधुनिक कहा जा सकता है। उनके निधन से एक नया विचारक उठ गया।

पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

एक नक्षत्र को अस्त हुए एक मास ही बीता था कि १५ अक्टूबर १६६१ को प्रयाग में एक हिंदी का सूर्य भी अस्तगत हो गया। असाधारण प्रतिभा के धनी, औदरदानी, उन्मुक्त स्वभाव, वेशभूषा, वार्तालाप, विचार व्यवहार में निराले पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी निराला भी हमारे बीच नहीं रहे। निराला जैसे युगप्रवर्त्तक और क्रांतिकारी कवि तथा विचारक विश्व में शताब्दियों में हुआ करते हैं। निराला जी का जन्म १८६६ ई० में बंगाल के महिषादल नामक राज्य में हुआ था। बँगला के असाधारण ज्ञान के साथ संस्कृत तथा अँगरेजी के वे प्रकांड विद्वान् थे। अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अणिमा, कुकुरमुत्ता, बेला, नये पत्ते, अर्चना, आराधना, गीतिगुंज, अपरा (संकलन) काव्य, सखी, लिली कहानीसंग्रह, अलका, अप्सरा, प्रभावती, निरुपमा, चोटी की पकड़, काले कारनामे उपन्यास, कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा, रेखाचित्र संस्मरण; रवींद्र कविताकानन, प्रबंधपद्य, प्रबंधप्रतिभा, चाबुक, चयन, पंत और पल्लव आदि निराला जी की ऐसी कृतियाँ हैं जो उन्हें सर्वदा स्मरणीय रखेंगी। निराला एक क्रांतिकारी कवि थे जिन्होंने समाज और काव्य की रूढियों और जरा जीर्ण मान्यताओं का प्रबल विरोध किया। इसके लिये उन्हें पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा। समस्त छायावादी कवियों में उनकी दृष्टि सर्वाधिक व्यापक और अनेकमुखी थी। घर में, समाज में, काव्य में उनके संघर्ष, ओज, और पौरुष की वाणी सुनाई पड़ती है। मूलतः यही उनका व्यक्तित्व था और इसको उन्होंने जिया भी। प्रयोग और प्रगति का इतना सुंदर समन्वय और किसी के काव्य में नहीं मिलेगा। इस महाप्राण व्यक्तित्व के महाप्रयाण से हिंदी का एक महत्वपूर्ण स्तंभ ध्वस्त हो गया।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

विगत दिसंबर, १९६१ में हिंदी के अन्यतम सेवक स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का निधन हरिद्वार में हुआ। आपकी अवस्था ८० वर्ष से कुछ अधिक थी। स्वामी जी का व्यक्तित्व आकर्षक तथा वाणी में असाधारण ओज था। जिस समय वे भाषण करते थे श्रोता मंत्रमुग्ध रह जाते थे। स्वामी जी आजन्म अविवाहित रहे तथा उन्होंने अनेक विदेशयात्राएँ कीं। विदेशों के संस्मरण वे बराबर हिंदी पत्रों में भेजा करते थे। संगठन का बिगुल, संजीवनी बूटी, मेरी कैलाशयात्रा, विदेश में लिखे अनुभव तथा लेख आदि उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। हिंदीसेवा का व्रत लेनेवाले और उक्त सेवा से संचित अपना सत्यज्ञान निकेतन नामक आश्रम नागरीप्रचारिणी सभा को प्रदान करनेवाले तपोनिष्ठ परिव्राजक स्वामी सत्यदेव जी सभा के सदस्य थे।

पंडित रामनरेश त्रिपाठी

हिंदी के पुराने साहित्यकार पंडित रामनरेश त्रिपाठी गत १७ जनवरी १९६२ को ७२ वर्ष की आयु में दिवंगत हो गए। अपने युग के वे प्रमुख कवि तथा लेखक थे। पंडित जी प्रचार से दूर रहनेवाले एकनिष्ठ हिंदी सेवक थे। हिंदी में बालसाहित्य के प्रवर्तन में उनकी बड़ी रुचि थी। रामायण, महाभारत, हितोपदेश, जातक कथाओं आदि के आधार पर प्रायः ५० बालोपयोगी पोथियाँ उन्होंने लिखीं तथा 'वानर' नामक मासिक पत्र भी निकाला था। कविता कौमुदी, मिलन, पथिक, स्वप्नमानसी, तरकस, हिंदी के वाङ्मय एवं साहित्य का कोश, रामचरित मानस की टीका, तुलसीदास और उनकी कविता, खोजपूर्ण प्रबंध आदि प्रसिद्ध कृतियों के अतिरिक्त हिंदी साहित्य संमेलन, हिंदुस्तानी अकादमी तथा 'नवनीत' मासिक आदि में आपका योगदान महत्वपूर्ण रहा।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन

राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रबल समर्थक तथा देशसेवक श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का निधन गत १ जुलाई १९६२ को प्रयाग में हुआ। टंडन जी का जन्म १ अगस्त

१८८२ को प्रयाग में हुआ था। 'सादा जीवन और उच्च विचार' के वे मूर्तिमान रूप थे। भारतीय संस्कृति तथा राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति आपके हृदय में जो अनुराग और दृढ़ता थी वह अन्यत्र दुर्लभ है। १६२०-२१ में महात्मा गाँधी के असहयोग आंदोलन में अपना सर्वस्व त्याग कर आप सम्मिलित हुए। इसके पश्चात् स्वतंत्रता संग्राम के प्रमुख सेनानी के रूप में आपने जिस धैर्य, साहस और लगन का परिचय दिया वह अनुकरणीय रहेगा। अखिल भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद से आपने देश का पथप्रदर्शन किया।

राजनीतिक जीवन में अत्यंत व्यस्त रहते हुए भी आपने हिंदी भाषा की अमूल्य सेवा की। हिंदी के प्रश्न पर टंडन जी को राजनीति से समझौता करना कभी स्वीकार नहीं हुआ। हिंदी के प्रचार प्रसार तथा समृद्धि के लिये आपने कुछ उठा नहीं रखा। हिंदी की हितचिंता आपके रोम रोम तथा प्राणों में समाई थी। लेखनी से हिंदी की सेवा का विशेष अवसर तो आपको नहीं मिला परंतु अपने मन, वचन और कर्म से आपने हिंदी का सदैव पोषण किया। हिंदी के पक्ष में आप कभी दुराग्रही नहीं रहे अपितु समस्त भारतीय भाषाओं के सतत हिताकांक्षी रहे। हिंदी साहित्य सम्मेलन के आप सजग प्रहरी थे। संघर्ष ही आपका जीवन था और हर समस्या के उचित समाधान के लिये सदा सचेष्ट करते रहे। हिंदी के लिये उपस्थित इस संकट काल मे राजर्षि जैसे हिंदीहितैषी की नितांत आवश्यकता थी।

इन दिवंगत साहित्यसेवियों के प्रति हम हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

❀

सभा के कतिपय सदस्यों से—

निम्नांकित सदस्यों के पास, उनके सम्मुखांकित पते पर भेजी गई नागरी-प्रचारिणी पत्रिका की प्रति यहाँ वापस आ गई है क्योंकि सदस्यों ने अपना स्थानपरिवर्तन कर लिया है। इन सदस्यों से साग्रह अनुरोध है कि वे कृपया अपना वर्तमान पूरा पता हमे अविलंब सूचित करा दें जिससे यहाँ के कागज पत्रों में आवश्यक संशोधन कर लिए जायँ और जो सामग्री यहाँ से भेजी जाया करे वह उन्हें नियमित रूप से मिलती रहा करे। जिन सभासदों के वर्तमान नवीन पतों की सूचना नहीं प्राप्त होगी उन्हें अब पत्रिकादि सामग्री उनके नाम के साथ दिए हुए पुराने पतों पर नहीं भेजी जायगी।

—प्रधान मंत्री

(१) ३४६–श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, मोरगंज बाजार, सहारनपुर, (उ० प्र०)।
(२) ३२२–श्री नवरंगलाल तुलस्यान, भभुआ, आरा (शाहाबाद)।
(३) ११८–श्री सेठ रामरिखदास केडिया, मारवाड़ी बाजार, बंबई।
(४) ५७४–श्री शिवमूर्ति सिंह, २८२ सुभाषनगर, ममफोर्ट गंज, इलाहाबाद।
(५) १३२–श्री सेठ सनेहीराम भुवालका, भुवालका ब्रदर्स, कालबादेवी रोड, बंबई।
(६) ६०४–श्री सज्जीवन लाल, मामावाला भवन, जवेरी बाजार, बंबई–२।
(७) १३६–श्री अंबालाल देराश्री, नागरवाड़ी उदयपुर।
(८) १४४–श्री अवधनारायण सिंह, सुपरिटेंडेंट पुलिस, गोंडा।
(९) १८६-श्री कृष्णकुमार पुरोहित, हाईकोर्ट, साभर, (राजपूताना)।
(१०) १९७–श्री केसरीसिंह जी, पचौली, रतलाम।
(११) २०६–श्री खलकसिंह जू देव, खनियाधाना स्टेट, ग्वालियर रेजीडेंसी, ग्वालियर।
(१२) २२१–श्री राजकुमार मेजर गुमानसिंह, बनेड़ा, (राजस्थान)।
(१३) २३४–श्री घनश्यामदास भरतिया, चदूलाल घनश्यामदास, मुजफ्फरपुर।
(१४) २४७–श्री चाँदबिहारी कपूर, सिविल जज, बरेली।
(१५) २७७–श्री जे०डी० शुक्ला, ऐडमिनिस्टेटिव सर्विस ट्रेनिंग स्कूल, नई दिल्ली।
(१६) २८७–श्री त्रिभुवननाथ चतुर्वेदी, प्रिंसिपल ए० एस० हा० से० स्कूल, जहाँगीराबाद।
(१७) ३०१–श्री कुँवर देवीसिंह जी, मदवाँ हाउस, जयपुर।
(१८) ३१२–श्री धर्मचंद खेमका, रतनगढ़, बीकानेर।
(१९) ३३१-श्री पन्नालाल सरावगी, ५६, सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट कलकत्ता।
(२०) ३४३–श्री पूरनमल गोयनका, टावर हाउस, चौरंगी स्क्वायर, कलकत्ता।
(२१) ४२३–श्री ठाकुर मुंशीसिंह, भूतपूर्व डिप्टी कलेक्टर, कानपुर।